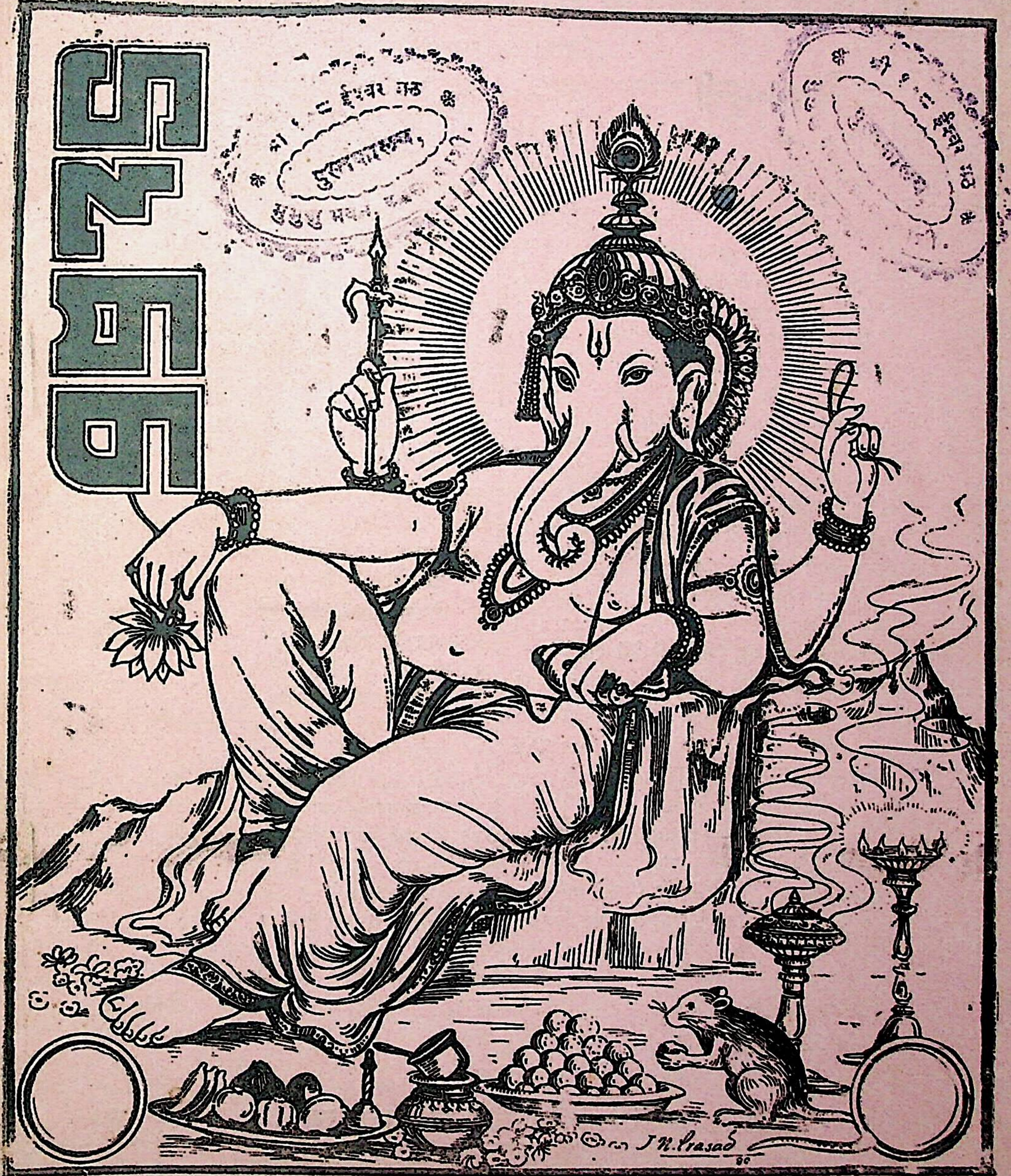
॥ ॐ श्रीपरमात्मने नमः ॥



वर्ष ५४]

'नमामि विघ्नेश्वरपादपङ्कजम्'

[अङ्क ९

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥

(संस्करण १,६०,०००)

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०६, सितम्बर १९८०

चित्र-सूची

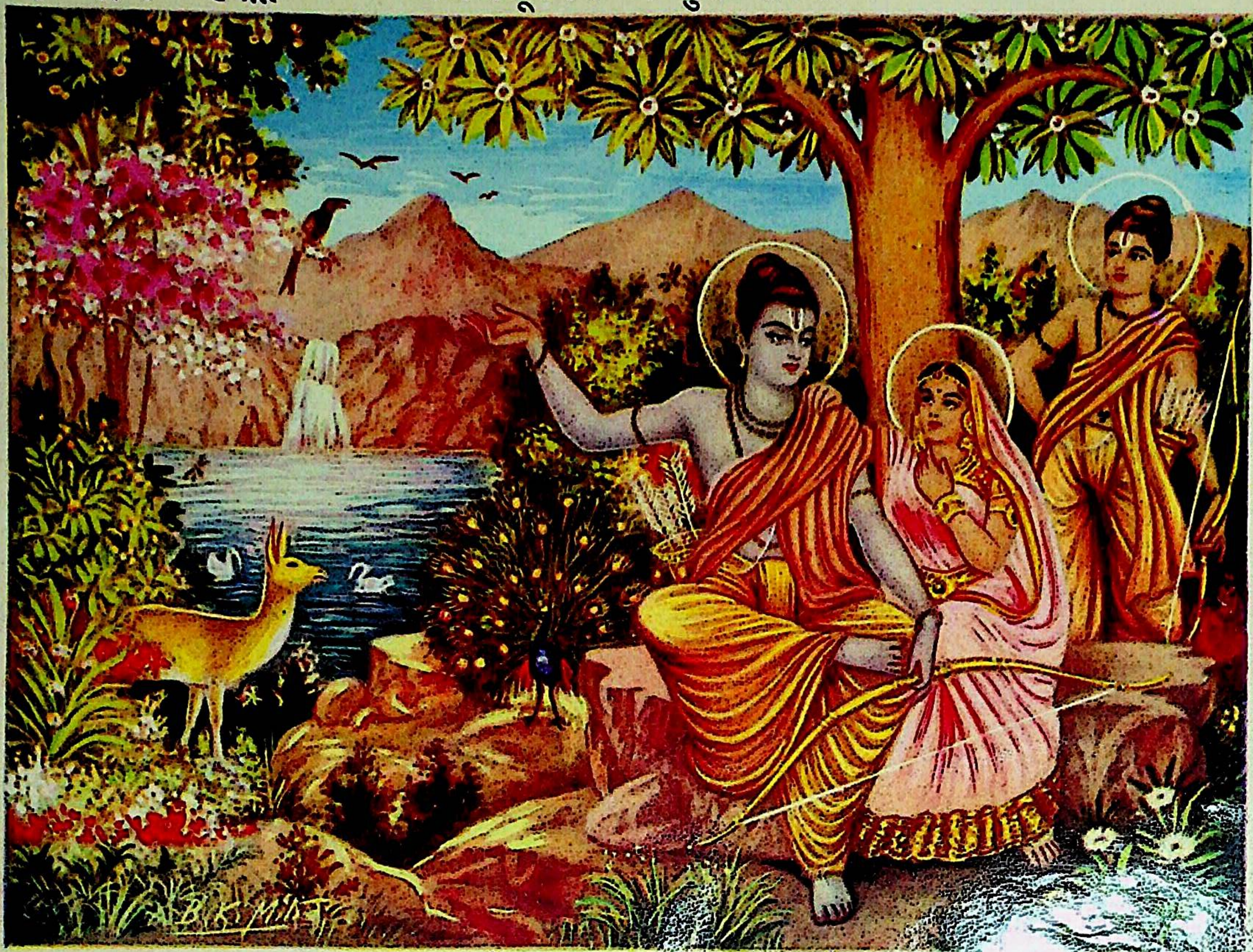
Free of charge] जय विराट् जय जगत्पते। गौरीपति जय रमापते ॥ [बिना मूल्य

आदि सम्पादक—नित्यलीलालीन भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दार

सम्पादक, मुद्रक एवं प्रकाशक—मोतीलाल जालान, गीताप्रेस, गोरखपुर

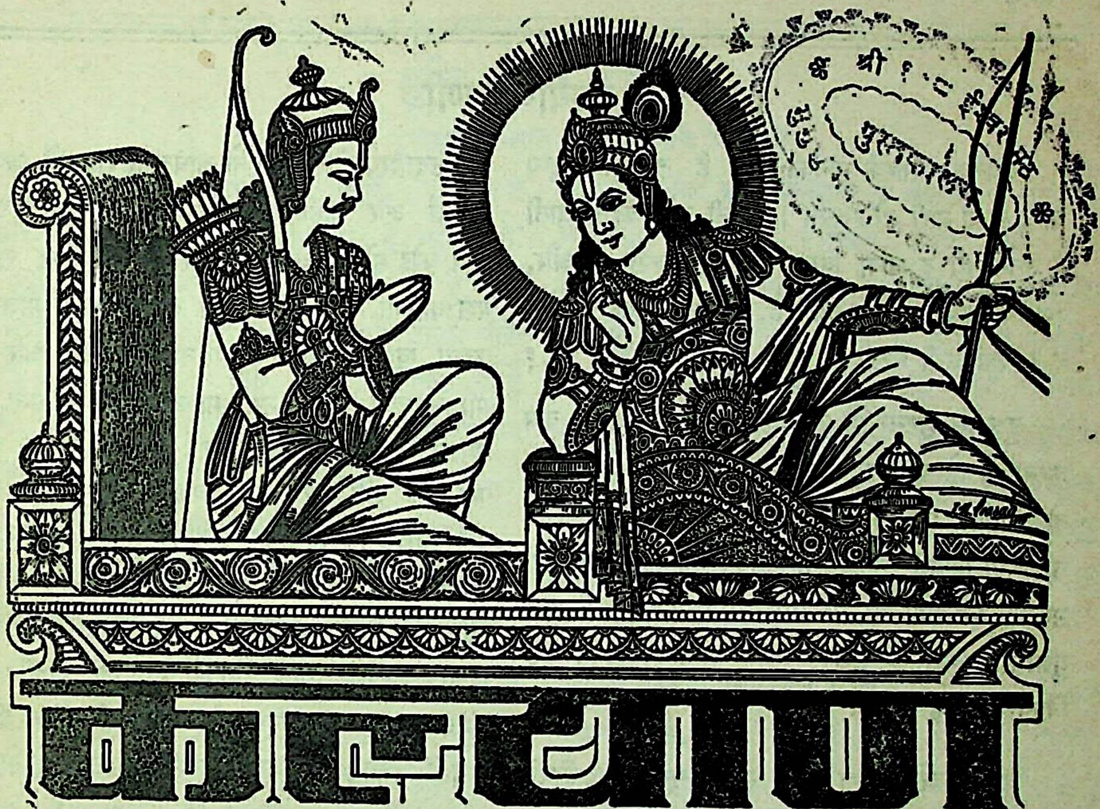
[भारत-सरकारद्वारा उपलब्ध कराये गये रियायती मूल्यके कागजपर मुद्रित]

चित्रकूटकी अभ्दुत शोभा



सानुज जहँ बसत राम, लोक-लोचनाभिराम,
बाम अंग बामावर विस्व-बंदिनी। (गीतावली)

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥



विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः ।
निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमधिगच्छति ॥ (श्रीमद्भगवद्गीता २ । ७१)

वर्ष ५४ } गोरखपुर, सौर आश्विन, श्रीकृष्ण-संवत् ५२०६, सितम्बर १९८० { संख्या ९
पूर्ण संख्या ६४६

चित्रकूट-सुषमा

फटिकसिला मृदु बिसाल, संकुल सुरतरु-तमाल
ललित लता-जाल हरति छबि बितानकी ।
मंदाकिनि-तटिनि-तीर, मंजुल मृग-बिहग-भीर,
धीर मुनिगिरा गभीर सामगानकी ॥ १ ॥
मधुकर-पिक-बरहि मुखर, सुंदर गिरि निर्झर-झर,
जल-कन घन-छाँह, छन प्रभा न भानकी ।
सब ऋतु ऋतुपति प्रभाउ, संतत बहै त्रिबिध बाउ,
जनु बिहार-बाटिका नृप पंचबानकी ॥ २ ॥
बिरचित तहँ परनसाल, अति बिचित्र लषनलाल,
निवसत जहँ नित कृपालु राम-जानकी ।

(गीतावली ४४)

कल्याण-वाणी

जबतक संसारके भोगकी चाह है तबतक मनुष्य कभी सुखी नहीं हो सकता। जितनी चाह बढ़ती जाती है उतना ही दुःखोंका विस्तार भी होता जाता है; और, ज्यों-ज्यों चाह पूरी होती जाती है, त्यों-त्यों और बढ़ती जाती है। चाह कभी घटती ही नहीं; फिर दुःख कैसे घटे ?

दुःखोंसे छूटना हो तो चाह छोड़ो, दुःखोंको कम करना हो तो चाह कम करो और चाह कम करनी हो तो चाहको पूरा करनेकी इच्छाका ही त्याग कर दो। चाहरूपी आगमें विषयरूपी घीकी आहुति मत दो; उसपर संतोषका शीतल जल छिड़क कर उसे बिल्कुल बुझा दो; अन्यथा—**'बुझै न काम अगिनि तुलसी कहुँ बिषय-भोग बहु घी ते।'**

विषय-सुखसे निराश होना सच्चे सुखकी प्राप्तिकी ओर बढ़ना है। विषयोंकी चिन्ता छूटे बिना सच्चे सुखका चिन्तन नहीं हो सकता। वे पुरुष वास्तवमें भाग्यवान् हैं जो विषय-सुखसे अलग हैं। विषय-सुखसे वञ्चित होना भाग्यशालिता है। लिप्तता अभाग्यशालिता है।

जिसके सांसारिक विषय जितने अधिक होते हैं वह प्रायः भगवान्‌से उतना ही अधिक दूर रहता है। विषयी पुरुषका वातावरण ही ऐसा बन जाता है कि उसके मनमें भगवान्‌की ओर झुकनेकी अभिलाषा सहजमें उत्पन्न नहीं होती। भगवत्-प्राप्तिकी अभिलाषा सत्संग और सद्ग्रन्थोंके द्वारा भगवान्‌का प्रभाव जाननेसे उत्पन्न होती है। विषयी पुरुषोंको न तो सत्सङ्गका अवसर मिलता है और न सद्ग्रन्थोंके पढ़ने-सुननेके लिये ही समय मिलता है। फलतः उनमें भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषाका उदय ही नहीं होता। यही उनकी अभाग्यशालिता है।

उदाहरण देखना हो तो अधिकतर राजाओं, अफसरों, धनियों और अमीरोंकी दशा देख लो। यदि इनमेंसे आप कोई हों तो अपने हृदयपर हाथ रखकर सोचो। यशःकामना, लोगोंपर प्रभाव बनाये रखना, मौज-शौक करना, खुशामदियोंसे घिरे रहना, चापलूस और चंदा माँगनेवालोंसे तंग रहना, महल-मकान बनवाना, सैर-सपाटा करना, नाटक-सिनेमा देखना, विनोद करना, परनिन्दा और परचर्चाको कहना-सुनना, भोग-वासना पूर्ण करना, विरोधियोंको दबाना, समान सम्मान और कीर्तिवालोंको नीचा दिखाना इत्यादि कितने ही परम आवश्यक प्रतीत होनेवाले प्रपञ्च पीछे लगे रहते हैं। सुबह उठनेसे लेकर रातको सोनेतक किसी समय भगवन्नामस्मरण और सद्ग्रन्थके अध्ययनकी कल्पना ही मनमें नहीं आती। फिर भगवत्प्राप्तिकी अभिलाषा हो तो कैसे ?

परंतु यह बात नहीं है कि सभी ऐसे ही होते हों। पूर्ण धन-दौलत, मान-सम्मान और पद-मर्यादामें रहते हुए भी भगवान्‌की ओर चित्त लगानेवाले पुरुष सदासे होते आये हैं और अब भी हैं; पर उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी होती है। पूर्वजन्मके विशेष साधनके बलसे ही वे प्रतिकूल वायुमण्डलमें रहकर अपनी स्थितिको सम्हाले रहते हैं और लक्ष्यको नहीं भूलते। अस्तु!

जहाँतक बने, विषयोंका संग्रह न करो, विषयोंका चिन्तन न करो, विषयी पुरुषोंका सङ्ग न करो, विषयासक्ति बढ़ानेवाले दृश्य न देखो, बात न सुनो और इस तरहके ग्रन्थ न पढ़ो। विषयोंसे मनको हटाकर भगवान्‌में लगाओ और मानव-जीवनको सफल करो। विश्वके विषय वास्तवमें विष हैं; अतः 'अमृत' पाना और अमर होना है तो परमेश्वरका पल्ला पकड़ो। तुम अमृतरूप परमात्माके ही पुत्र हो—**'अमृतस्य पुत्राः'**।

'शिव'

*

मुक्ति-प्राप्तिके उपाय

(अनन्तश्री पूज्यपाद योगिराज देवरहवाबाबाके उपदेश)

संसारमें जो भी पदार्थ हम देखते हैं वे सभी द्वन्द्वोंसे परिपूर्ण हैं । तात्पर्य—जहाँ सुख है, वहीं उसके साथ ही दुःख भी लगा हुआ है; जहाँ लाभ है, वहीं हानि लगी हुई है; जहाँ जन्म है, वहीं उसके पीछे मृत्यु लगी हुई है । इसी भावको व्यक्त करते हुए रामायणमें संत तुलसीदासजी गुण-दोषमय विश्वसे गुणग्रहण करनेकी सलाह देते हुए कहते हैं—

जड़ चेतन गुन दोषमय बिस्व कीन्ह करतार ।
संत हंस गुन गहहिं पय परिहरि बारि बिकार ॥

संसारकी बनावट ही विचित्र है । यहाँ जहाँ हम गुण देखते हैं, वहीं इस विश्वमें कुछ दोष भी बना हुआ है । यही मायाका विस्तार है । संसार जैसे अनित्य है, वैसे ही द्वन्द्व याने मायाका विस्तार भी अनित्य है । हम इन द्वन्द्वात्मक वस्तुओंको सुखके बाद दुःख या दुःखके बाद सुख, हानिके बाद लाभ या लाभके बाद हानि, मानके बाद अपमान या अपमानके बाद मान इत्यादि बारी-बारीसे उपस्थित होनेवाले पदार्थोंको—नित्यप्रति देखते और अपने व्यवहारमें अनुभव करते हैं, फिर भी इससे विलग नहीं हो पाते । हम यह सोचते हैं कि अमुक कार्यमें हमें लाभ होगा, पर हमें वहाँ कभी हानि भी दिख जाती है, जिसकी कोई कल्पना भी हमारे मनमें नहीं रहती । ऐसे उल्टे-पुल्टे कार्य हमारे-द्वारा होने लगते हैं कि अन्तमें हम उन्हें छोड़ बैठते हैं । इन विषयोंके विचारके सम्बन्धमें हमें इन तीन बातोंपर ध्यान देना होगा—

१-इन्द्रियोंकी चञ्चलता—हमारी इन्द्रियाँ एक समान स्थिर नहीं रहतीं । हम अपनी आँखसे जिस वस्तुको देखते हैं या अपनी नाकसे जिस वस्तुको सूँघते हैं, यदि हम उसे ही बराबर देखते या सूँघते रहें, उसमें यदि कोई फेर-बदल या नवीनता न लायें तो इन्द्रियोंके अस्थिरताके स्वभावके कारण हमें उसे छोड़नेको बाध्य होना पड़ेगा । यही दशा हमारी सभी इन्द्रियोंकी है । इनका स्वभाव ही है कि ये कुछ-न-कुछ नवीनता चाहती रहती हैं और अपने नये-नये उपभोगमें सुखका अनुभव करती हैं । यदि एक समान ही नित्य उपयोग होता रहा तो सुखका यह अनुभव भी निरन्तर घटता जायगा । अतएव इन इन्द्रियोंकी अस्थिरताके कारण सांसारिक विषय-भोगोंमें हमें नित्यता अनुभव नहीं होती ।

२-अन्तःकरण—अब दूसरी वस्तु जो इस सम्बन्धमें विचारणीय है, वह है हमारी अन्तःकरणकी स्थिति; अर्थात् इस अन्तर्द्वन्द्वमें हमारा यह मन कैसा रहता है । मन प्रसन्न रहा तो कठोर शब्द भी हमें अच्छे लगते हैं और मन अप्रसन्न रहा तो सुहावने शब्द भी हमें कटु लगने लगते हैं । जब हम ज्वरसे आक्रान्त रहते हैं तो अच्छा-से-अच्छा भोजन भी हमें रुचिकर नहीं लगता । सारांश यह है कि बाहरी सुख-दुःख हमारे मनकी स्थितिपर निर्भर करते हैं । यदि मन अच्छा रहा तो काम अच्छा हुआ और यदि मन खराब रहा तो काम बिगड़ गया । ऐसा प्रायः देखनेमें आता है । वस्तुतः सम्पूर्ण अन्तःकरणकी स्थिति मनपर निर्भर करती है ।

३-बाह्यदशा—इस संदर्भमें जो तीसरी वस्तु विचारणीय है, वह है बाहरी परिस्थिति । जहाँ हमने अन्तःकरणकी स्थितिके विषयमें देखा, वहीं हमें बाहरी स्थितिपर भी ध्यान देना आवश्यक है । शरीर और मन यदि चाहें तो भी बाहरी परिस्थितिके उपयुक्त नहीं रहनेपर कार्य सुन्दर और सुचारु नहीं हो सकता; अतएव शरीर, मन और

बाह्य परिस्थिति—तीनों मिलकर साथ दें तो आगे काम हो और तीनोंमें मेल न हो तो काम आगे न हो, यही दशा सभी कार्योंके साथ समझनी चाहिये।

बाहरी जगत् और पदार्थोंको अनुकूल और प्रतिकूल बनाना यह अन्तःकरणपर निर्भर करता है। यदि अन्तःकरणमें अशान्ति हो तो बाहरी संसर्गोंसे शान्ति नहीं मिल सकती और यदि अन्तःकरणमें शान्ति हो तो बाहरी कोलाहल उसे विचलित नहीं कर सकता। द्वन्द्वोंको अनित्य जानकर उन्हें सहन करनेमें ही सच्चा सुख है। तितिक्षाका अर्थ है—सहन करना। क्षणभङ्गुर सुखों और दुःखोंको सहन करना ही श्रेष्ठताका लक्षण है। सुख-दुःखोंको समान समझनेवाला सचमुचमें धीर पुरुष कहलाता है। वस्तुतः धीर पुरुषको ही विषय-भोग व्याकुल नहीं कर सकते और यथार्थमें वही मोक्ष पानेयोग्य व्यक्ति है। इस विषयमें गीताका (२। १५) निम्नलिखित श्लोक विशेषरूपसे मननीय है—

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते॥

'दुःख-सुखको समान समझनेवाले जिस धीर पुरुषको इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं करते, वही मोक्षके लिये योग्य है।'

मोक्ष या मुक्तिका अभिप्राय है सांसारिक पदार्थोंको छोड़कर भगवान्से मिलना, जो हमारे लिये असम्भव नहीं तो कठिन तो है ही; क्योंकि हम द्वन्द्वमें पड़कर दुःखी हो जाते हैं। इसलिये हमें अपनी इन्द्रियोंको अन्तर्मुखी करके निरन्तर चैतन्य प्रभुसे तल्लीनता प्राप्त करनेका प्रयत्न करना चाहिये। श्रीभगवान्से तल्लीनता प्राप्त करनेपर ये सांसारिक द्वन्द्व आकाशमें फैले बादलकी तरह छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। सारांश यह कि सम्पूर्ण जगत्में फैले असद्भावोंको छोड़कर भगवान्में तल्लीन होनेसे ही मुक्तिका पात्र बननेका हमें अधिकार मिलता है। (प्रेषक—श्रीरामकृष्णप्रसादजी, एडवोकेट)

तत्त्वविवेककी पद्धति

तत्त्वबोधके लिये अथवा आत्मसाक्षात्कार या मोक्षप्राप्तिके लिये दार्शनिकोंने—विशेषकर वेदान्तमें शंकराचार्य प्रभृतिने निम्नाङ्कित प्रक्रिया प्रतिपादित की है—

सबसे पहले साधकको मोक्षके साधनभूत तत्त्व-विवेकके अधिकारी बननेके लिये साधन-चतुष्टय-सम्पन्न होना चाहिये। साधन-चतुष्टय कौन है?—१-नित्यानित्यवस्तुविवेक, २-ऐहिक, पारलौकिक विषयोंके फल-भोगमें विराग, ३-शमादि षट्साधनकी सम्पत्ति और ४-मोक्षकी प्रबलेच्छा। (क) नित्यानित्य वस्तुविवेक क्या है?—नित्यवस्तु एकमात्र ब्रह्म है और उसके अतिरिक्त सब कुछ (दृश्य-प्रपञ्च) अनित्य है—ऐसा बोध हो जाना। (ख) विराग क्या है?—इस संसारमें स्रक् (माला), चन्दन, वनिता इत्यादि विषय-भोगोंमें तथा पारलौकिक स्वर्गादि लोकोंके सभी भोगोंमें इच्छाका राहित्य-(न होना) ही विराग है। (ग) शमादि षट् साधन-सम्पत्तियाँ कौन हैं?—शम, दम, उपरति, तितिक्षा, श्रद्धा, समाधान—ये छः सम्पत्तियाँ हैं। (१) शम क्या है?—अन्तरिन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रियका निग्रह शम कहा जाता है। (२) दम क्या है?—बाह्येन्द्रिय अर्थात् ज्ञानेन्द्रियका निग्रह (नियन्त्रण) दम है। (३) उपरति किसे कहते हैं?—प्रपञ्च (मायिक संसार) से उपराम (अनासक्त) होनेके साथ ही स्वधर्मके नियमपूर्वक पालन (अनुष्ठान) को उपरति कहते हैं। (४) तितिक्षा क्या है?—शीत-उष्ण, सुख-दुःख इत्यादि द्वन्द्वोंकी सहिष्णुता ही तितिक्षा है। (५) श्रद्धा क्या है?—गुरु और वेदान्तवाक्योंमें विश्वास ही श्रद्धा है। (६) समाधान किसे कहते हैं?—चित्तकी एकाग्रताको समाधान कहते हैं। (समाहित चित्त ही तत्त्वविवेककी पद्धतिमें अग्रसर हो सकता है।) (घ) मुमुक्षा क्या है?—यही कि 'मैं मोक्ष प्राप्त करूँ' ऐसी प्रबल इच्छा। इन चार साधनोंसे सम्पन्न साधक ही तत्त्व-विवेकका अधिकारी होता है। (केवल पुस्तक पढ़नेसे अथवा सत्सङ्गमें बैठकर सद्वार्ता सुन लेनेसे तत्त्वविवेकका अधिकार नहीं प्राप्त होता)। तत्त्वविवेक क्या है?—आत्मा सत्य है, अन्य सब मिथ्या है—इसका वास्तविक ज्ञान (बोध) ही तत्त्वविवेक है। (तत्त्वबोधके आधारपर)

पागलकी झोली

[साधु-दर्शनकी महिमा]

(लेखक—श्रीश्रीसीतारामदास ओंकारनाथजी महाराज)

क्षेपा मन-ही-मन राम राम कर रहा है। राम राम सीताराम! नाम लेनेमें वह तनिक भी विश्राम नहीं करता। अविराम नाम जपते-जपते वह कभी थेई-थेई करके नाचने भी लग जाता है। इसी नाचने और राम राम जपनेके कारण लोग उसे क्षेपा (विक्षिप्त या पागल) कहते हैं। पर क्षेपा किसीकी परवाह न कर सदा राम राम रटता रहता है। एक दिन हलधरने उससे पूछा—क्षेपा बाबा! यह तो बताइये कि लोग साधुको देखने क्यों जातेहैं? क्या लोग एक दूसरेकी देखा-देखी उनके पास जाया करते हैं? साधुदर्शनसे लाभ क्या है?

क्षेपा—राम राम सीताराम! जय जय राम सीताराम! साधुके दर्शन करने जाना कोई खेल-तमाशा थोड़े है कि सभी लोग देखा-देखी चले जायँ; पर हाँ, कुछ लोग ऐसा ही समझते हैं; किंतु यह सत्य नहीं है। शास्त्रोंके अनुसार गीताके श्लोकोंका पाठ करनेसे, गोविन्दके स्मृतिकीर्तन करनेसे एवं साधुओंके दर्शनमात्रसे कोटि तीर्थोंमें स्नानका फल प्राप्त होता है—

गीतायाः श्लोकपाठेन गोविन्दस्मृतिकीर्तनात्।
साधुदर्शनमात्रेण तीर्थकोटिफलं लभेत्॥

'जो पुरुषोत्तमके नाम-गुण पढ़ता है, उन्हें नमस्कार करता है, उनका ध्यान करता है, ऐसे महात्माओंको छूने अथवा देखनेसे भी मनुष्य पापोंसे छूट जाते हैं'—

ये पठन्ति नमस्यन्ति ध्यायन्ति पुरुषोत्तमम्।
तान् स्पृष्ट्वाथवा दृष्ट्वा नरः पापैः प्रमुच्यते॥

यही कारण है कि लोग साधु-संतोंके पास जाते हैं। ब्रह्म ही प्राणियोंके लिये उत्तम प्रकारसे भजनीय विख्यात है एवं जीवोंद्वारा उत्तम प्रकारसे उपास्य है। जो इस ब्रह्मकी इस प्रकारसे उपासना करते हैं, उनकी स्तुति समस्त प्राणी करते हैं! राम राम सीताराम! जो एकमात्र भगवान्‌के ही आश्रयमें रहते हैं, उनकी स्तुति और प्रार्थना भूतमात्र करते हैं।

'तद्ध तद्वनं नाम तद्वनमित्युपासितव्यम्। स य एतदेवं वेदाभि हैनꣳ सर्वाणि भूतानि संवाञ्छन्ति॥'
(केनोपनिषद् ४। ६)

हलधर—तो इसका अर्थ हुआ कि जो एकान्तभावसे श्रीभगवान्‌को भजता है, उसे कोई अद्भुत शक्ति प्राप्त हो जाती है, जिससे सभी लोग अवशभावसे उसकी ओर आकृष्ट होते हैं।

क्षेपा—राम राम सीताराम! परंतु सात्त्विक प्रवृत्तिके लोग जितने आकर्षित होते हैं, उतने राजस और तामस प्रकृतिवाले नहीं होते। हाँ, उनके साथ समालोचना करने तो वे भी (राजसी और तामसी प्रवृत्तिवाले भी) जाते हैं। राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम!

हलधर—अच्छा क्षेपा बाबा, भगवान्‌का भजन करनेसे क्या लाभ होता है?

क्षेपा—राम राम! सोचो, लोहेको आगमें तपानेसे क्या होता है? राम राम सीताराम!

हलधर—लोहा भी गर्म होकर आगके समान लाल हो जाता है।

क्षेपा—राम राम सीताराम! उसी प्रकार **'स यो ह वै तत् परं ब्रह्म वेद स ब्रह्मैव भवति।'** (मुण्डकोपनिषद् ३। २। ९) जो उस परब्रह्मको जानता है वह भी ब्रह्म ही हो जाता है। भगवान्‌का भजन करनेसे भक्त भी भगवान्-जैसा हो जाता है।

'ॐ ब्रह्मविदाप्नोति परम् ।' (तैत्तिरीय उपनिषद्) जो परम महान् ब्रह्मको जानता है वह सच्चिदानन्दघन परब्रह्मको प्राप्त होता है—जानत तुम्हहिं तुम्हहि होइ जाई ॥' राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम !

हलधर—ब्रह्मको जाननेका क्या अर्थ है ?

क्षेपा—'ब्रह्म है'—शास्त्रोंद्वारा इस प्रकार जाननेका नाम है 'परोक्ष ज्ञान', 'मैं ब्रह्म हूँ'—इस प्रकार जाननेका अर्थ है 'अपरोक्ष ब्रह्मज्ञान।' राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम !

हलधर—ब्रह्म ही तो भगवान् हैं। क्या उन्हें देखा जा सकता है ? इस युगका मानव क्या प्रत्यक्ष करनेमें समर्थ है ?

क्षेपा—राम राम सीताराम ! हाँ, प्रत्यक्ष देख सकता है। भक्त जब दर्शनके लिये व्याकुल होकर सब कुछ, यहाँतक कि प्राणोंका मोह भी, छोड़कर उन्हें पुकारता है, तब वे स्थिर नहीं रह सकते। वे दर्शन देते हैं, वर देते हैं। राम राम सीताराम।

हलधर—उन्हीं भगवान्‌को देखना ही ब्रह्मका दर्शन करना है ?

क्षेपा—राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम। हाँ, इसी एक अद्वितीयको ज्ञानी ब्रह्म, योगी परमात्मा, और भक्त भगवान् कहकर पुकारते हैं। राम राम सीताराम।

हलधर—जिन महात्माओंने भगवान्‌को प्राप्त कर लिया है, उनसे मनुष्य जो चाहे, वह पा सकता है ?

क्षेपा—राम राम सीताराम। यदि मनमें पक्का विश्वास रहे तो ब्रह्मज्ञके चाहनेपर सब कुछ पाया जा सकता है—

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते यांश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते तांश्च कामां-
स्तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥
(मुण्डकोपनिषद् ३ । १ । १०)

विशुद्ध निर्मल-चित्त व्यक्ति जिस-जिस लोकका मनके द्वारा संकल्प करते हैं, अथवा जिस-जिस भोगकी इच्छा करते हैं, वे लोक और भोग उन्हें प्राप्त होते हैं। अतएव ऐश्वर्य चाहनेवालेको आत्मज्ञानीकी पूजा करनी चाहिये। राम राम सीताराम जय जय राम !

हलधर—पर साधुओंके दर्शनसे क्या लाभ ?

क्षेपा—राम राम सीताराम, जय जय राम सीताराम! चिरसमाधिजनित ब्रह्मामृतका पान करनेवाला संन्यासी परमहंस अवधूत ही तो होता है।

द्युलोकसे ऊपर विश्वके पृष्ठमें संसारसे अतीत रूपमें निरतिशय उत्तम सत्यादि लोकोंमें ब्रह्मकी जो ज्योति प्रद्योतित हो रही है, वही पुरुषकी देहके मध्य भी स्थित है। जिस समय वह शरीरको स्पर्श करती है, उस समय उष्णताका अनुभव हो सकता है। तब वहीं ब्रह्मज्योतिके दर्शन हो सकते हैं। जब कर्णरन्ध्रोंको बन्द करनेपर रथके चक्र चलनेका शुद्ध, साँडके डकरानेकी ध्वनि तथा अग्निके चटचटाने-जैसी आवाजें सुनायी पड़ें, तब समझना चाहिये कि ये ब्रह्मज्योतिके श्रवणके चिह्न हैं। उसी ज्योतिको 'दृष्टश्रुत' कहकर उपासना करनी चाहिये। जो उसकी उपासना करते हैं, वे संसारमें ख्याति प्राप्त करते हैं, आदर-सम्मान प्राप्त करते हैं। राम राम सीताराम ! जय जय राम सीताराम ! जो ज्योति और नादकी उपासना करते हैं, वे ही लोगोंके लिये दर्शनयोग्य और यशस्वी होते हैं। ऐसे तपस्विजनोंका दर्शन करना चाहिये। राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम !

हलधर—कौन साधु ज्योति-नादके उपासक हैं, यह साधारण व्यक्ति कैसे जान सकेंगे ?

क्षेपा—सभीके रूपमें एक वे ही लीला कर रहे हैं । राम राम सीताराम ! वे ही इसका ज्ञान करा देंगे । जिस साधुके प्रति लोगोंका स्वतः आकर्षण हो तो वह देखनेसे ही जाना जा सकता है कि उस साधुने ज्योति और नाद पा लिया है और अनन्य भावसे श्रीभगवान्‌की उपासना करता है । राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम ।

'अन्तर्बाह्ये लक्ष्ये दृष्टौ निमेषोन्मेषवर्जितायां सत्यां शाम्भवी मुद्रा भवति । तन्मुद्रारूढज्ञानिनिवासात् भूमिः पवित्रा भवति । तद्दृष्ट्या सर्वे लोकाः पवित्रा भवन्ति । एतादृशपरमयोगिपूजा यस्य लभ्यते सोऽपि मुक्तो भवति ।' (अद्वयतारकोपनिषद्)

अन्तर्लक्ष्य निमेषोन्मेषवर्जित (पलकोंको खोलने-बंद करनेसे रहित) दृष्टिका नाम शाम्भवी मुद्रा है । इस मुद्रामें आरूढ ज्ञानीके निवाससे भूमि पवित्र होती है । उसके दर्शन करनेसे लोग पवित्र हो जाते हैं । ऐसे परमयोगीकी पूजाका सौभाग्य जिसे प्राप्त हो जाय वह मुक्त हो जाता है ।

हलधर—इससे लोगोंका क्या उपकार होता है ?

क्षेपा—राम राम सीताराम ! जय जय राम सीताराम ! एक शिष्यने अपने गुरुदेवसे प्रश्न किया—भगवन् ! इससे लोगोंका क्या उपकार होता है ? गुरुदेवने उत्तर दिया—इससे तीन प्रकारसे उपकार होता है । शिष्यने पूछा—वह कैसे ? गुरुदेव बोले—राम राम सीताराम ! **नित्यशुद्धबुद्धसत्यस्वभावरूपोऽहं एवं विधो बोधो भवति । आचार्यप्रसादात् ज्ञानप्रबुद्धःसंसार विनिर्मुक्तो भवति ।** (अद्वयतारकोपनिषद्) सीताराम जय जय राम ! इन (सत्पुरुषों)के दर्शन, भजन और सम्भाषणद्वारा—तीनों प्रकारसे उपकार होता है । दर्शनसे पापोंका क्षय होता है । भजनसे उत्तरोत्तर श्रेयःवृद्धि होती है । सम्भाषणसे तो मोक्ष-प्राप्ति भी हो सकती है । 'मैं नित्य शुद्ध बुद्ध सत्य स्वभावरूप हूँ' इस आत्मतत्त्वका बोध हो जाता है । आचार्यके प्रसादसे ज्ञान-प्रबुद्ध होकर मनुष्य संसारसे विशेषरूपसे मुक्त होता है । राम राम सीताराम जय जय राम सीताराम !

हलधर—अरे, तब तो साधुओंके दर्शन करनेका फल कम नहीं । अच्छा, बाबा साधुके लक्षण क्या हैं ?

क्षेपा—राम राम····

त्रीण्येव तु सतामाहुः सन्तः पदमनुत्तमम् ।
न चैव द्रुह्याद्दद्यात्तु सत्यं चैव सदा वदेत् ॥
(महाभारत, शान्तिपर्व)

साधुओंके तीन श्रेष्ठ लक्षण हैं । वे हैं—किसीके साथ द्रोह न करे, सबको कुछ देता रहे और सदा सत्य बोले ।

न प्रहृष्यति सम्माने नावमाने च कुप्यति ।
न क्रुद्धः परुषं ब्रूयादित्येतत् साधुलक्षणम् ॥

साधु पुरुष सम्मान करनेपर प्रसन्न नहीं होता, अपमान करनेसे क्रोध भी नहीं करता; वह कभी कर्कश निष्ठुर वचन भी नहीं बोलता । यही साधुके लक्षण हैं । राम राम सीताराम ।

हलधर—सिद्ध पुरुषके क्या लक्षण हैं ?

क्षेपा—राम राम राम जय राम ! देखो—

सिद्धस्य त्रीणि चिह्नानि दाता भोक्ताप्ययाचकः ।
सिद्धमन्त्रस्य तन्त्रोक्ता प्रवर्त्तन्ते हि सिद्धयः ॥
(श्रीविद्यार्णव)

भोक्ता होकर भी अयाचक होना साथ हीं तन्त्रोक्त सिद्धमन्त्र और सिद्धियोंकी प्राप्ति—ये तीनों सिद्धके लक्षण हैं । राम राम जय जय राम !

राम राम जय जय राम ! इसी प्रकार किसीसे द्वेष और आकाङ्क्षा किये बिना जो सम्पूर्ण प्रकृत भोगोंका भोग करते हैं, वे जीवन्मुक्त होते हैं । (महोपनिषद्)

जो जरा, मृत्यु, आपद्, राज्यभोग तथा दारिद्र्य सभी समान हैं—ऐसा जानकर समयानुसार इन अवस्थाओंके

आनेपर उन्हें भोगते हैं, वे जीवन्मुक्त होते हैं। दुःखकी उपेक्षा नहीं करते, सुखकी आशा नहीं करते। कार्यसिद्धिपर आह्लाद अथवा असिद्धि पर खेद नहीं करते, वे सिद्ध हैं। (योगवासिष्ठ)।

साधुओंद्वारा किये गये सम्मान अथवा दुर्जनोंद्वारा किये गये उत्पीडनको जो समभावसे सहन करते हैं, वे जीवन्मुक्त हैं। (अध्यात्मोपनिषद्)

दुर्गा दुर्गा दुर्गेति दुर्गा नाम परं मनुः।
यो जपेत् सततं चण्डि! जीवन्मुक्तः स मानवः॥
(मुण्डमालातन्त्र)

'देवि! दुर्गा दुर्गा दुर्गा!' इस परममन्त्रका जो सतत जप करता है, वह जीवन्मुक्त होता है। जो जोरसे अथवा मनमें इसका सर्वदा जप करता रहता है, वह जीवन्मुक्त होता है। राम राम सीताराम ! जय जय राम सीताराम !

राम राम सीताराम ! जय जय राम सीताराम ! समझे हलधर ?

हलधर—क्षेपा बाबा ! जीवन्मुक्त कैसे हुआ जाता है ?

क्षेपा—राम राम जय जय राम ! सुनो—

ततः सिद्धमनुर्भूत्वा जीवन्मुक्तो भवेन्मुनिः।
(रामरहस्योपनिषद्)

'मन्त्रसिद्ध होनेपर साधक जीवन्मुक्त होता है। सर्वदा 'गुरु' नाम जप करनेसे भी साधक जीवन्मुक्त होता है।'

श्रीरामेति मनुष्यो यः सम्मुच्चरति सर्वदा।
जीवन्मुक्तो भवेत् सो हि साक्षात् रामात्मकः सुधीः॥
(आदित्यपुराण)

'जो मानव सर्वदा श्रीराम-नामका उच्चारण करता है, वह साक्षात् रामात्मक सुबुद्धिमान् जीवन्मुक्त होता है।'

रामेति द्व्यक्षरं नाम ये वदन्ति त्वहर्निशम्।
न कस्यापि भयं येषां जीवन्मुक्ताश्च ते नराः॥

'जो 'राम' इन दो अक्षरोंका अहर्निश जप करते हैं और जिन्हें किसीका भय नहीं रहता, वे जीवन्मुक्त हो जाते हैं।' राम राम सीताराम ! जय जय राम सीताराम !

हलधर—अहो ! क्षेपा बाबा !! इसीलिये तुम सर्वदा राम राम करते रहते हो !!! इतने दिनों बादमें तुम्हें पहचान पाया हूँ। मुझे भी कोई एक उपाय बता दो, क्षेपा बाबा !

क्षेपा—राम राम सीताराम ! जय जय राम सीताराम। केवल राम राम कहो। और कहीं भी साधु आये हुए हैं, यह सुनो तो उनके दर्शन करने जाओ। और कुछ भी नहीं करना पड़ेगा। साधु यदि एक बार कृपापूर्वक तुम्हें देख भी लेंगे तो तुम कृतार्थ हो जाओगे।

यस्यानुभवपर्यन्तो बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः॥
खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्दृष्टिगोचराः।
सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरघैः॥
(वराहोपनिषद्)

जिसकी बुद्धि परमात्मतत्त्वका अनुभव कर सदा सत्तत्त्वमें ही प्रवृत्त रहती है, उसकी दृष्टिके पथमें पड़नेवाले सभी जीव-जन्तु समस्त पातकोंसे मुक्त हो जाते हैं। ब्रह्मविद्के दृष्टिपथमें आनेवाले सब आकाशचारी पक्षी तथा पृथिवीपर संचरण करनेवाले मनुष्य-पशु-कीटादि अपने-अपने कोटि जन्मार्जित पापोंसे तुरन्त मुक्त हो जाते हैं। राम राम राम राम जय जय राम राम राम !

हलधर—जय राम ! साधु जीवन्मुक्त पुरुष यदि एक बार कृपापूर्वक देख भी ले तो मनुष्य ही क्या, पशु-पक्षीके भी कोटि जन्मोंके पाप नष्ट हो जाते हैं ! कितने आनन्दकी बात है। चलूँ दौड़कर जाऊँ और लोगोंको बता दूँ। 'अरे सुनो भाई—कुछ भी साधन नहीं कर पाते तो कोई बात नहीं। साधु-दर्शन, सत्सङ्ग करने अवश्य जाना। जय ! सत्सङ्गकी जय।

(सुश्री सुधा सोमानी-द्वारा बँगलासे अनूदित)

ब्रह्मलीन परमश्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दकाके अमृत-वचन

[प्रेम और शरणागति]

प्रेमका वास्तविक वर्णन नहीं हो सकता। प्रेम जीवनको भी प्रेममय बना देता है। वह मानो गूँगेका गुड़ है। उसका आनन्द अवर्णनीय है। रोमाञ्च, अश्रुपात, प्रकम्प आदि तो प्रेमके बाह्य लक्षण हैं, भीतरके रसप्रवाहको कोई कहे भी तो कैसे? वह धारा तो उमड़ती हुई आती है और हृदयको आप्लावित कर डालती है। पुस्तकोंमें प्रेमियोंकी कथाएँ पढ़ते हैं, किंतु सच्चे प्रेमीका दर्शन तो आज दुर्लभ ही है। परमात्माका सच्चा प्रेमी एक ही व्यक्ति करोड़ों जीवोंको पवित्र कर सकता है।

बरसते हुए मेघ जिधरसे निकलते हैं, उधरकी ही पृथ्वीको तर कर देते हैं। इसी प्रकार प्रेमी भी प्रेमकी वर्षासे अपनी दिशाके चराचरको तर कर देता है। प्रेमीके दर्शनमात्रसे ही हृदय तर होकर लहलहा उठता है। तुलसीदासजी महाराजने कहा है—

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम ते अधिक राम कर दासा॥
राम सिंधु घन सज्जन धीरा। चंदन तरु हरि संत समीरा॥

समुद्रसे जल लेकर मेघ उसे बरसाते हैं और वह बड़ा ही उपकारी होता है। भगवान् समुद्र हैं और संत मेघ। भगवान्से ही प्रेम लेकर संत संसारपर प्रेम बरसाते हैं और जिस प्रकार मेघका जल नदियों, नालोंसे होकर पृथ्वीको उर्वरा बनाते हुए समुद्रमें प्रवेश कर जाता है, ठीक उसी प्रकार संत भी प्रेमकी वर्षा कर अन्तमें प्रभुके प्रेमको प्रभुमें ही समर्पित कर देते हैं।

भगवान् चन्दनके वृक्ष हैं और संत वायु। जिस प्रकार वायु चन्दनकी सुगन्धिको दिग्दिगन्तमें फैला देती है, उसी प्रकार संत भी प्रभुकी दिव्य गन्धको प्रवाहित करते रहते हैं। संतको देखकर प्रभुकी स्मृति आती है, अतएव संत प्रभुके स्वरूप हैं। जैसे पपीहा और किसान तो केवल मेघके ही आश्रित हैं, वैसे ही श्रद्धालु पुरुष भी केवल संतोंके ही आश्रयमें रहते हैं।

प्रेमीकी वाणी और नेत्र आदिसे प्रेमकी वर्षा होती रहती है। उसका मार्ग प्रेमसे पूर्ण होता है। वह जहाँ जाता है वहाँके कण-कणमें, हवामें, धूलिमें उसके स्पर्श-के कारण प्रेम-ही-प्रेम दृष्टिगोचर होता है। उसका स्पर्श ही प्रेममय होता है, स्नेहसे ओत-प्रोत होता है।

अब प्रश्न यह उपस्थित होता है कि यह प्रेम कैसे प्राप्त हो? इस सम्बन्धमें गोस्वामीजीने कहा है—

बिनु सतसंग न हरि कथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु राम पद होइ न दृढ़ अनुराग॥

किंतु दुःख है कि हमलोगोंका प्रेम काञ्चन-कामिनी एवं मान-प्रतिष्ठामें हो रहा है। हम तो सच्चे प्रेमके लिये हृदयमें कभी कामना ही नहीं करते। जबतक प्रेमके लिये हृदय तरस नहीं जाता, व्याकुल नहीं होता, तबतक प्रेमकी प्राप्ति हो भी कैसे सकती है? अभी तो हमलोगोंका कामी मन नारी-प्रेममें ही आनन्दकी उपलब्धि कर रहा है। अभी तो हमलोगोंका लोभी चित्त काञ्चन-की प्राप्तिमें ही पागल है। अभी तो हमलोगोंका चञ्चल चित्त मान-बड़ाईके पीछे मारा-मारा फिरता है। जबतक हमलोगोंका यह काम और लोभ सब ओरसे सिमटकर एकमात्र प्रभुके प्रति नहीं हो जाता, तबतक हम प्रभुके प्रेमको प्राप्त भी कैसे कर सकते हैं?

प्रेमी मूक रहते हुए भी भाषण देता है, मानो उसका अङ्ग-प्रत्यङ्ग बोलता है। उसके सभी अवयवोंसे मानो एक शुद्ध संकेत, एक निर्मल ध्वनि निकलती है। प्रेमी उपदेश देने नहीं जाता, वह क्या बोले, कैसे बोले? गोपियोंने प्रेमकी शिक्षा किसे और कब दी थी?

भरतजीने भक्तिका उपदेश कब और किसे दिया ? उनके चरित्र उपदेश देते रहे और देते रहेंगे। प्रेममें जिस अनन्यता और आत्मसमर्पणकी सराहना की गयी है, उसकी सजीव मूर्ति गोपियाँ हैं। इसी प्रकार रामायणमें उसके प्राणस्वरूप प्रेममूर्ति श्रीभरतजी हैं।

यह हमारा शरीर ही क्षेत्र है। इस खेतमें कर्मरूप जैसा बीज बोया जायगा वैसा ही फल उपजेगा। बीज तो परमात्माका प्रेमपूर्वक ध्यानसहित जप है। परंतु जलके बिना यह बीज उग नहीं सकता। वह जल है हरि-कथा और हरि-कृपा। जैसे खेतमें गेहूँ बोनेसे गेहूँ और जौ बोनेसे जौ उपजता है, उसी प्रकार हृदयरूप खेतमें राम बोनेसे राम ही उपजेंगे। हम प्रेमपूर्वक भगवान्के ध्यान और जपका बीज बोयेंगे तो फलरूपमें हमें प्रेममय भगवान् ही मिलेंगे। प्रेममय भगवान्का साक्षात्कार ही इस बीजका फल है। साधारण बीज तो धूलिमें पड़कर नष्ट भी हो जाता है, परंतु निष्काम रामनामका वह अमर बीज कभी नष्ट नहीं होता। जल है हरि-कथा और हरि-कृपा, जो संतोंके सङ्गसे ही प्राप्त होता है। उस हरि-कथा और हरि-कृपासे ही हरिमें विशुद्ध प्रेम होता है, अतएव प्रेमकी प्राप्तिका उपाय सत्सङ्ग ही है।

भगवान्में हमारा प्रेम कैसा हो ? भगवान् रामका उदाहरण लीजिये। भगवान् श्रीराम लता-पतासे पूछते हैं—'तुमने मेरी सीताको देखा है ?' गोपियोंको देखिये, वे वन-वन 'कृष्ण', 'कृष्ण' पुकार-पुकारकर अपने हृदय-धनको खोज रही हैं। प्रेममें जितनी ही अधिक तीव्र उत्कण्ठा होती है, उतने ही शीघ्र प्रेममय ईश्वर मिलते हैं।

भगवान् जल्दी-से-जल्दी कैसे मिलें—यह भाव जाग्रत् रहनेपर ही भगवान् मिलते हैं। यह लालसा उत्तरोत्तर बढ़ती चले। ऐसी उत्कट इच्छा ही प्रेममयके मिलनेका कारण है और प्रेमसे ही प्रभु मिलते हैं। प्रभुका रहस्य और प्रभाव जाननेसे ही प्रेम होता है। थोड़ा-सा भी प्रभुका रहस्य जाननेपर हम उसके बिना एक क्षणभर भी नहीं रह सकते।

पपीहा मेघको देखकर आतुर भावसे विह्वल हो उठता है। ठीक उसी प्रकार हमें प्रभुके लिये पागल हो जाना चाहिये। हमें एक-एक पल उसके बिना असह्य हो जाना चाहिये। पर यह स्थिति होती है प्रभुमें एकान्त अनुरागसे, गाढ़े अन्तःप्रेमसे। उसीके लिये प्रयत्न होना चाहिये।

जिस प्रकार मछलीका जलमें, पपीहेका मेघमें, चकोरका चन्द्रमामें प्रेम है, उसी प्रकार हमारा भी प्रेम प्रभुमें हो। एक पल भी उनके बिना चैन न मिले, शान्ति न मिले। ऐसा प्रेम प्रेममय संतोंकी कृपासे ही प्राप्त होता है। जिस प्रकार चन्दनके वृक्षकी गन्धको लेकर वायु समस्त वृक्षोंको चन्दनमय बना देती है, यद्यपि उन्हें चन्दनवत् बनानेवाली तो वह गन्ध ही है, फिर भी वायुके बिना उसकी प्राप्ति नहीं हो सकती; उसी प्रकार संतजन आनन्दमयके आनन्दकी वर्षाकर विश्वको आनन्दमय कर देते हैं, प्रेम और आनन्दके समुद्रको उमड़ा देते हैं। कहा जाता है कि गौराङ्ग महाप्रभु जिस पथसे निकलते थे, वहीं प्रेमका प्रवाह बहा देते थे। पर ऐसे प्रेमी संतोंके दर्शन भी प्रभुकी पूर्ण कृपासे ही होते हैं। प्रभुकी कृपा तो सबपर रहती है, परंतु पात्र बिना वह फलवती नहीं होती। शरणागत भक्त ही प्रभुकी ऐसी कृपाके पात्र हैं, अतएव हमें सर्वतो-भावसे भगवान्के शरण होना चाहिये। सर्वथा उनका आश्रित बनकर रहना चाहिये। सर्वप्रकारसे उनके चरणोंमें अपनेको सौंप देना चाहिये। भगवान्ने स्वयं कहा है कि—

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात् परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्॥

(गीता १८। ६२)

'हे भारत ! सब प्रकारसे उस परमेश्वरकी ही अनन्य शरणको प्राप्त हो । उसकी कृपासे ही परम शान्तिको और सनातन परम धामको प्राप्त होगा ।'

हमें मनसे, वाणीसे और कर्मसे शरण होना चाहिये । तभी सम्पूर्ण समर्पण होता है यानी उस परमेश्वरको मनसे भी पकड़ना चाहिये, वाणीसे भी पकड़ना चाहिये और कर्मसे भी पकड़ना चाहिये । उनके किये हुए विधानोंमें प्रसन्न रहना, उनके नाम, रूप, गुण और लीलाओंका चिन्तन करना मनसे पकड़ना है । नामोच्चारण करना, गुणगान करना वाणीसे पकड़ना है और उनके आज्ञानुसार चलना कर्मसे अर्थात् क्रियाओंसे पकड़ना है ।

उपर्युक्त प्रकारसे शरण होनेपर शरणागत प्रभुकी कृपाका सच्चा पात्र बन जाता है और प्रभुकी कृपासे ही उसे विशुद्ध प्रेमकी प्राप्ति हो जाती है तथा उसको परमात्माका साक्षात् दर्शन होकर परमानन्द एवं परम शान्तिकी प्राप्ति हो जाती है ।

अतएव हमलोगोंको संसारके सारे पदार्थोंका मोह छोड़कर प्रभुकी शरणमें जाना चाहिये । ऋद्धि-सिद्धि, मान-बड़ाई और प्रतिष्ठा आदिसे भी वृत्तियाँ हटा लेनी चाहिये । यह अपार संसार एक अथाह सागर है । इसके पार जानेके दो ही साधन हैं—नावसे जाना अथवा तैरकर जाना । नाव प्रभुका प्रेम है और तैरना है सांख्ययोग यानी ज्ञान । कहनेकी आवश्यकता नहीं कि तैरनेकी अपेक्षा नावमें जाना अधिक सुगम, निश्चिन्त और सुरक्षित है ।

अत: हमलोगोंको प्रेम और प्रेममय भगवान्‌की प्राप्तिके लिये मनसा, वाचा, कर्मणा सब प्रकारसे भगवान्‌की अनन्यशरण* होना चाहिये—

'तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत ।'

कृपा-कोर कछु कीजै

(रचयिता—स्वामी श्रीसनातनदेवजी)

कृपा-निधि ! कृपा-कोर कछु कीजै ।
विषय-बयार सों विरस हियो यह स्नेह-सुधासों सीजै ॥
देह-नेह करि छेह प्रीतिकी प्रखर पिपासा दीजै ।
निजताको नहिं होय भार उर प्रियताके रस भीजै ॥
स्वारथ-परमारथ हो तव रति, सुमति न और पतीजै ।
हरिजन हौं हीं स्वजन, और जन-धनकी ममताछीजै ॥
पर-हित-निरत रहै यह मन, तन सेवा-रससों रीझै ।
काहूके गुन-औगुन लखि यह हियो न रीझै-खीझै ॥
सब कछु है तव रूप श्याम ! तो राग-द्वेष का कीजै ।
जो-जो जित-जित होत निरखि तव लीला हियो उसीजै ॥
कहा-कहा हौं कहौं नाथ ! अब हियो न कहूँ पतीजै ।
अपने पै अपनो न रह्यौ कछु, होय तो अपनो कीजै ॥

* अनन्ययोगसे उपासना, अव्यभिचारिणी भक्ति एवं अनन्यशरण—ये तीनों एक ही हैं ।

श्रीराधा-स्वरूप-तत्त्वका स्मरण

(नित्यलीलालीन परमश्रद्धेय भाईजी श्रीहनुमानप्रसादजी पोद्दारके अमृत वचन)

रसो यः परमानन्द एक एव द्विधा सदा।
श्रीराधाकृष्णरूपाभ्यां तस्यै तस्मै नमो नमः॥

'जो एक ही परमानन्द-रसरूप है, वही सदा दो प्रकारका बनकर लीलारत है और वह श्रीराधा-कृष्णरूप है। उसे मेरा बार-बार नमस्कार है।'

परात्पर परतत्त्वस्वरूप समग्र भगवान् सच्चिदानन्द हैं। ब्रह्म, परमात्मा इत्यादि उन्हींके विभिन्न, (पर) अभिन्न स्वरूप हैं। सत्-चित्-आनन्द उनके स्वरूपभूत गुण या उनकी नित्य स्वरूपा-शक्ति हैं। शक्ति और शक्तिमान्‌में नित्य अभेद है। एकके बिना दूसरेकी सत्ता संदेहमें पड़ जाती है। शक्ति नहीं है तो शक्तिमान् कोई वस्तु नहीं, और शक्तिमान् न हो तो शक्तिका निवास कहाँ हो? शक्तिके दो स्वरूप नित्यसिद्ध हैं—अमूर्त और मूर्त। अमूर्त स्वरूपमें शक्ति शक्तिमान्‌में तिरोहित है। वहाँ परतत्त्व भगवान् अपनी आनन्द-स्वरूपा ह्लादिनी आदि शक्तियोंके साथ निर्विशेष—निर्भेद रूपमें बाह्य-लीलारहित लीलामें स्थित हैं। इस अद्वैत तत्त्व-अवस्थामें प्रत्यक्ष लीलाविलास नहीं है। पर इसीके साथ युगपत् परतत्त्व भगवान्‌की निज स्वरूपभूता वे ही ह्लादिनी आदि शक्तियाँ लीलारसास्वादनके लिये मूर्तरूपमें भी प्रकट रहती हैं। यहाँ शक्तियोंके साथ परतत्त्व शक्तिमान् भगवान् भिन्न-भिन्न रूपोंमें लीलायमान रहते हैं। परस्वरूपके तत्त्वतः एक होनेपर भी अनादिकालसे दोनों-रूपोंमें लीला-रसका आस्वादन चलता रहता है। भगवान्‌की स्वरूपा-शक्तियोंमें आनन्द या ह्लादिनी ही सर्वप्रधान है। वह ह्लादिनी-शक्ति 'भाव' रूपा है और शक्तिमान् भगवान् 'रस'-रूप हैं। ह्लादिनी-भावकी पूर्ण परिणति 'महाभाव' है और भगवान् 'रसराज' हैं। महाभावरूपा श्रीराधाके बिना रसराज श्रीकृष्णकी और रसराज श्रीकृष्णके बिना महाभावरूपा श्रीराधा और उनकी कायव्यूहरूपा गोपसुन्दरियोंकी एवं इन दोनोंके बिना उत्तरोत्तर दिव्य परमानन्दकी नित्य आनन्दवर्धक सत्ता सिद्ध नहीं होती।

विना राधां कृष्णो न खलु सुखदः सा न सुखदा
विना कृष्णं द्वाभ्यामपि बत विनान्या न सरसाः।
विना रात्रिं नेन्दुस्तमपि न विना सा च रुचिभाग्
विना ताभ्यां जृम्भां दधति कुमुदिन्योऽपि नितराम्॥

'श्रीराधाके बिना श्रीकृष्ण सुखद नहीं हैं और श्रीकृष्णके बिना राधा सुखदा नहीं है। और, इन दोनोंके बिना अन्य सखियाँ भी रसमयी नहीं हैं—जैसे रात्रिके बिना सुधांशु शोभायुक्त नहीं, और सुधांशुके बिना रजनी शोभामयी नहीं है; और, इन दोनोंके बिना कुमुदिनी प्रमुदित नहीं होती।'

श्रीगोपाङ्गनाएँ भगवदानन्दस्वरूपा श्रीराधाका ही स्वरूप-विस्तार हैं। ये सभी गोपाङ्गनाएँ लौकिक कामरागसे सर्वथा रहित श्रीकृष्णप्रेम-रसमयी हैं। इसीसे स्वयं ब्रह्माजीने भी इन श्रीगोपरमणियोंकी चरणरज़का स्पर्श प्राप्त करनेके लिये व्रजमें किसी भी जड-चेतन योनिमें प्रकट होनेकी कामना की थी—

तद् भूरिभाग्यमिह जन्म किमप्यटव्यां
यद् गोकुलेऽपि कतमाङ्घ्रिरजोऽभिषेकम्।
यज्जीवितं तु निखिलं भगवान् मुकुन्दस्-
त्वद्यापि यत्पदरजः श्रुतिमृग्यमेव॥
(श्रीमद्भागवत १० । १४ । ३४)

श्रीउद्धवजीने इनकी चरण-रज पानेके लिये गुल्म-लता-ओषधि बनकर व्रजमें प्रकट होना चाहा था। अतः सब स्वसुख-वासना-लेश-गन्ध-विहीन कृष्ण-सुख-विग्रहा श्रीगोपाङ्गनाओंकी महिमा अनन्त, अनिर्वचनीय

और अचिन्त्य है। इनमें सबकी मूल आधाररूपा, आत्मरूपा, गोपीप्रेमकी मूल उत्सरूपा हैं—महाभावमयी श्रीराधिकाजी।'

श्रीराधा नित्य निर्गुणरूपा प्राकृत गुणोंसे रहित, प्रियतम श्रीकृष्णसुखकी आधाररूपा हैं और श्रीकृष्ण भी निर्गुण-प्राकृत गुणोंसे शून्य (पर राधा-प्रेमसमुद्रमें नित्य निमज्जित) हैं। श्रीराधा-कृष्णका नित्य लीलाविहार परम प्रेममय, सकल सरस सम्पूर्ण परमानन्दस्वरूप है। परम भागवत परमहंसोंका तो वही जीवन है। राधाप्राण-वल्लभ श्रीकृष्ण अपने अतुल असमोर्ध्व दिव्य सौन्दर्य माधुर्य, सौशील्य, सौगन्ध्य प्रभृति स्वरूपगुणोंसे सुशोभित हैं। उनके सौन्दर्य-लेशसे अनन्त अनङ्गोंके सौन्दर्यका विकास और विस्तार होता है। उनका मधुर माधुर्य-लेश ही विश्व-ब्रह्माण्डमें अनादिकालसे अनन्तकालतक नानाविध मधुर रूपों तथा भावोंमें विकीर्ण है। उनके सौशील्यकी छाया-कल्पनासे जगत्‌में सुशीलताका आदर्श स्थिर है और उनके सुगन्ध-लेश-स्पर्शसे ही पुष्पादिसे परम आनन्दवर्धक विविध विचित्र सौरभका प्रसार होता है। ये श्रीकृष्ण ही विभिन्न अवतारोंके अवतारी हैं। इसी प्रकार समस्त सौन्दर्य, माधुर्य, सौशील्य और सौगन्ध्यकी जो अनन्त आकररूपा हैं, वे ही स्वरूपाशक्ति श्रीराधा हैं। ये प्रियतम श्रीकृष्णकी परम प्रेयसी और वरद वल्लभा हैं। विश्वब्रह्माण्डमें विभिन्न रूपोंमें प्रकाशित तथा पूजित दुर्गा, काली इत्यादि शक्तियाँ इन्हींकी अंश-स्वरूपा हैं।

शक्ति और शक्तिमान्

श्रीराधाजी भगवान् श्रीकृष्णकी नित्य अभिन्न स्वरूपा-शक्ति हैं। यह कहा जा चुका है कि शक्तिमान्‌में शक्ति दो रूपोंमें रहती है—'अमूर्त रूपमें और 'मूर्त'रूपमें। शक्तिमान्‌में जो शक्तिकी नित्य सत्ता है, वह अमूर्त है और जो स्वरूपसे सर्वथा सर्वदा सब प्रकारसे अभिन्न होते हुए उस दिव्य शक्ति-सत्ताकी अधिष्ठात्रीरूपमें भिन्न रूपसे प्रकट विविध विचित्र स्वरूपभूता लीलामयी-लीलाकारिणी है, वह मूर्त है। भगवान्‌के अचिन्त्यानन्त स्वरूपोंमें जैसे 'आनन्द' स्वरूप प्रधान है, वैसे ही उनकी अचिन्त्यानन्त शक्तियोंमें आनन्दरूपा 'ह्लादिनी' शक्ति प्रधान है। स्वयं रसरूप रसराज भगवान् जिस दिव्य आनन्दमयी शक्तिके द्वारा स्वरूपानन्दका रसास्वादन करते हैं और प्रेमी भक्तोंको स्वरूपानन्द-रसका आस्वादन कराते हैं, उसी शक्तिका नाम 'ह्लादिनी' है। वही स्वरूपतः नित्य अभिन्न और लीलामयी अधिष्ठात्री मूर्तिके रूपमें नित्य भिन्न है, वे वही ही श्रीराधा हैं।

श्रीराधिकाजी स्वयं यशोदाजीसे कहती हैं—

'रा'शब्दश्च महाविष्णुर्विश्वानि यस्य लोमसु।
विश्वप्राणिषु विश्वेषु धा धात्रीमातृवाचकः॥
धात्री माताहमेतेषां मूलप्रकृतिरीश्वरी।
तेन राधा समाख्याता हरिणा च पुरा बुधैः॥
(ब्रह्मवै० कृष्णजन्म १११। ५७-५८)

"'रा'शब्दका अर्थ है—जिनके एक-एक लोमकूपमें सम्पूर्ण विश्व भरे हैं, वे महाविष्णु तथा (उनके अन्दर निवास करनेवाले) विश्वके प्राणी और सम्पूर्ण विश्व और 'धा'शब्द धात्री तथा माताका वाचक है। अतएव मैं ही महाविष्णु, विश्वके सम्पूर्ण प्राणी तथा समस्त विश्वकी धात्री माता ईश्वरी मूलप्रकृति हूँ।'

त्वं च लक्ष्मी शिवा धात्री सावित्री च पृथक् पृथक्।
गोलोके च स्वयं राधा रासे रासेश्वरी सदा॥
(ब्रह्मवैवर्तपुराण)

'तुम अलग-अलग लक्ष्मी, दुर्गा, धात्री और सावित्री हो; गोलोकमें स्वयं राधा हो और रासमें सदा रासेश्वरी हो।'

राधा देवी जगत्कर्त्री जगत्पालनतत्परा।
जगल्लयविधात्री च सर्वेशी सर्वसूतिका॥
(बृहन्नारदीयपुराण)

'श्रीराधादेवी जगत्‌की रचना करनेवाली, उसके पालनमें तत्पर रहनेवाली और (प्रलयके समय) संहार करनेवाली हैं तथा सम्पूर्ण जगत्‌की प्रसविनी जननी हैं।'

कृष्णेन आराध्यत इति राधा,
कृष्णं समाराधयति सदेति राधिका ।
(राधोपनिषद्)

'श्रीकृष्ण इनकी आराधना करते हैं, इसलिये ये राधा हैं और ये सदा श्रीकृष्णकी समाराधना करती हैं, इसलिये 'राधिका' कहलाती हैं ।'

आत्मारामस्य कृष्णस्य ध्रुवमात्मास्ति राधिका ।
(स्कन्दपुराणीय भागवतमाहात्म्य २ । ११)

श्रीराधिका आत्माराम भगवान् श्रीकृष्णकी निश्चय ही आत्मा हैं ।

अन्तमें हम ऐसी दिव्यशक्तिस्वरूपा, श्रीकृष्ण-अभिन्नरूपा-भगवती श्रीराधासे प्रार्थना करें—

सदा राधिकानाम जिह्वाग्रतः स्यात्
सदा राधिकारूपमक्ष्यग्र आस्ताम् ।
श्रुतौ राधिकाकीर्तिरन्तःस्वभावे
गुणा राधिकायाः श्रिया एतदीहे ॥

जिह्वाके मम अग्रभागपर रहे विराजित राधा-नाम ।
मेरी आँखोंके सम्मुख नित रहे राधिका-रूप ललाम ॥
कानोंमें नित रहे गूँजती, राधाकीर्ति-कथा-अभिराम ।
बना रहे श्रीश्रीराधाका गुण-गण-चिन्तन मन अविराम ॥



मूलसे मिलन

(लेखक—आचार्य श्रीमुंशीरामजी, शर्मा 'सोम' पी-एच्० डी०, डी० लिट्०)

ओ३म् अभिव्यक्तिका मूल है । अभिव्यक्तिकी नाना शाखा-प्रशाखाएँ, पत्र, मञ्जरी, फूल-फल—सब इसीसे फूटकर फैले हैं । इसकी त्रिवलीय तीन मात्राओंसे एक ओर वेदत्रयी, दूसरी ओर त्रिलोकी तो तीसरी ओर पिण्डत्रिसूत्री भी विकसित हुई है । शब्द-शास्त्रियोंमें मान्यता प्राप्त अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाकी उत्पत्ति भी इसीसे हुई है । अ से उ कुछ दूर है, पर वह इसमें अनुस्यूत भी है; इसे सभी शब्द-शास्त्री जानते हैं । भू से भुवः अथवा पृथ्वीसे अन्तरिक्ष दूर है, पर भूकी सत्ता वहाँ भी विद्यमान है । स्वः और मकारकी स्थिति भी इसी कोटिकी है । वे दूरसे दूर हैं, पर सत्तासे विरहित नहीं । इसी प्रकार अभिधासे लक्षणा कुछ दूर है । व्यञ्जना तो और भी दूर है, पर अभिधासे सभी युक्त हैं । आचार्य महिमभट्टने अपने 'व्यक्तिविवेक' में इसी हेतु अभिधाको प्रमुखता दी है ।

'अभिव्यक्तेरिति आश्मरथ्यः'[1]—ऐसा ब्रह्मसूत्र है । यह अभिव्यक्ति एक ओर लोकोंमें है तो दूसरी ओर वेदोंमें । काव्य-शास्त्री इन्हें दृश्य तथा श्रव्य काव्य भी कह सकते हैं । वेद स्वयं इसे **'देवस्य पश्य काव्यम्'** कहता है । भूत या प्राणीमें दोनोंके अंश हैं । भूतोंमें लोक हैं—सिर द्यावा है, ग्रीवासे नाभितक अन्तरिक्ष है और कटिसे पैरतक पार्थिव-अंश है तो उनमें चेतना उस महाचितिका ही अंश-मात्र है । वेदान्तके प्रारम्भिक सूत्रोंमें ही बादरायण व्यासने **'जन्माद्यस्य यतः'**[2] तथा **'शास्त्रयोनित्वात्'**[3] कहकर इन दो क्षेत्रोंकी ओर स्पष्ट संकेत कर दिया है । **'तत्तु समन्वयात्'**[4] सूत्र, वह

१—(भक्तोंपर अनुग्रह करनेके लिये) देश-विशेषमें ब्रह्मका प्राकट्य होता है, इसलिये कोई विरोध नहीं है, ऐसा आश्मरथ्य आचार्य मानते हैं । (ब्र० सू० १ । २ । २९)

२—इस जगत्के जन्म आदि (उत्पत्ति स्थिति और प्रलय) जिससे होते हैं, वह ब्रह्म है । (ब्र० सू० १ । १ । २)

३—शास्त्र-(वेद-)में उस ब्रह्मको जगत्का कारण बताया गया है, इसलिये उसको जगत्का कारण मानना उचित है । (ब्र० सू० १ । १ । ३)

४—तथा वह ब्रह्म, समस्त जगत्में पूर्णरूपसे अनुगत (व्याप्त) होनेके कारण (उपादान) भी है (ब्रह्मसूत्र १ । १ । ४)

एक सत्ता सबमें समन्वित है, मूलही शाखाओंमें विकसित हुआ है, सबमें समाया हुआ है—इसी तथ्यको अभिव्यक्ति दे रहा है।

ओ३म्‌का असमस्तरूप वर्णमालामें है। इसी प्रकार सत्-चित्‌में भी है और आनन्दमें भी। सत्ताके सभी रूप सत्-सम्पन्न हैं। छान्दोग्यके ऋषि भी सत्‌से ही सबका उद्भव मानते हैं। असत्‌से सत् नहीं, तो उसके विकसित रूप भी असत्‌से नहीं, सत्‌से ही उद्भूत हैं। परमात्मा सत् है, असत् नहीं। बौद्धोंकी माध्यमिक शाखा जिसे शून्यवाद कहती है, वह वस्तुतः शून्य अथवा सत्ताविरहित नहीं, मात्र अनिर्वचनीय है। माण्डूक्य ऋषि ओंकारकी चतुर्थ मात्राको भी 'अव्यपदेश्य' ही कहते हैं; क्योंकि वहाँ प्रपञ्चका एकान्त उपशम है वह अ ही अ है—उ और म जो उसमेंसे निकलकर बाहर आते हैं, अब उसीमें लीन हो गये हैं। अ का अर्थ जो 'नहीं' या 'निषेध' किया जाता है, उसका अर्थ इतना ही है कि वह मूल है; उसे कोई प्रपञ्च न कह दे।

अ का अर्थ आविर्भाव भी है। भीतरसे वही, सर्वप्रथम बाहर आता है। प्रकृतिसे महत्तत्त्व निकला। इसे सबसे बड़ा विकार भी कहा जा सकता है। महत्‌का अर्थ ही है महान्, बड़ा। ज्येष्ठ ब्रह्म भी यही है। प्राणिश्रेष्ठ मानवमें बुद्धि इसीका एक अंश है। बाईबिलने इसीको 'ज्ञानका वृक्ष' कहा है। वृक्ष स्वयं बड़ा है; क्योंकि उसके फलोंमें अनेक बीज हैं, जो अनेक वृक्षोंको उत्पन्न करते हैं; परन्तु पहला वृक्ष ही ज्येष्ठ है, सबका अग्रज है। इसी प्रकार महत्तत्त्व सबका अग्रज है। पैदा वह भी हुआ है, पर सबसे पहले पैदा होनेके कारण वह सबसे ज्येष्ठ है। ज्येष्ठ शब्द आयुका भी द्योतक है। आयुमें जो सबसे बड़ा है, वही ज्येष्ठ है। गुणोंमें उत्तर और उत्तम कहे जाते हैं। तेजमें, शौर्यमें यह उत्तर है, उत्तम है—ऐसा कथन होगा। वहाँ ज्येष्ठ शब्दका व्यवहार नहीं होगा।

वर्णोंमें ब्राह्मण ज्येष्ठ हैं; क्योंकि वही सबका अग्रज है; परंतु उसमें चैतन्य भी सबसे अधिक होता है, इसलिये वह उत्तम भी है। शरीरमें सिरको उत्तमांग, उसमें निहित बुद्धिके कारण ही कहा जाता है। वैसे सिर गर्भसे निकलता भी सबसे पहले है। समाजका सिर अर्थात् बुद्धि-प्रधान अंश ब्राह्मण भी सृष्टिमें सर्वप्रथम आविर्भूत हुआ। उसे उपनिषद् क्षत्रयोनि कहती है—क्षत्र ही क्यों, आगे विकसित सामाजिक अंग—वैश्यों और शूद्रोंकी भी योनि वही है। ब्राह्मण ही सब वर्गोंमें व्याप्त है, वैसे ही जैसे पिता अपनी संतानमें व्याप्त रहता है। ब्राह्मण स्वयं ब्रह्मका है—**'ब्रह्मणः अयम् इति ब्राह्मणः।'** जो ब्रह्मका है, वह आगे आनेवाले सभीका है अतः अभिव्यक्तिका अ भी वही है।

अ प्रथम विकार है। महत्तत्त्व प्रथम विकार है। ब्राह्मण प्रथम विकार है। यही नहीं म् और ऋक् भी प्रथम विकार हैं। इस प्रथम विकारका बड़ी दूरतक विकास हुआ। यह विकास अपने प्रतिविकास या प्रतिप्रसवमें प्रथम विकारपर ही आकर रुकेगा और यह प्रथम विकार अपने स्रोतमें विलीन होगा। ब्रह्मसूत्र इसी स्थितिको **'स्वाप्ययात्'**[५] सूत्र-द्वारा प्रकट करता है। **'अत्ता चराचरग्रहणात्'**[६] सूत्रमें भी यही भाव है।

५—अपनेमें विलीन होना बताया गया है, इसलिये सत् शब्द भी जड़ प्रकृतिका वाचक नहीं हो सकता। (वे० द० १। १। ९)

६—चर और अचर सबको ग्रहण करनेके कारण यहाँ भोजन करनेवाला अर्थात् प्रलयकालमें सबको अपनेमें विलीन करनेवाला परब्रह्म परमेश्वर ही है। (वे० द० १। २। ९)

'अनुस्मृतेर्बादरिः'[७]—बादरि मुनि इसीका अनुसरण करनेका आदेश देते हैं। हम सबको अपने मूलका ही स्मरण करना है। यह मूल ओंकार है। यही प्रणव है—प्रकृष्टरूपसे नवीन—**'नवो नवो भवसि जायमानः।'** (वाजस० सं०) **'स पूर्वो नूतनमाविवासत्।'** नवीन-से-नवीन किसलयमें, आधुनिक-से-आधुनिक जन्तुमें, वर्तमान-से-वर्तमान क्षणमें वही विद्यमान है; उस मूलका यह विकास है और वही एक अनेक हो रहा है—**'एकं वा इदं विबभूव सर्वम्।'**

सभी अपने पूर्वजोंका ध्यान करते हैं—**'नहि तृप्यामि शृण्वानः पूर्वेषां चरितं महत्।'** —पूर्वजोंके चरित्र-श्रवणसे तृप्ति नहीं प्राप्त होती है, पर जो पूर्वजोंका पूर्वज है, मूल है उस मूलकी ओर हम क्यों नहीं चलते, उसका स्मरण क्यों नहीं करते? मानव-योनिमें सभी योनियोंके संस्कार हैं, पर उस मूल योनिके संस्कारोंका विकास इसी मानव-देहमें होता है, अन्यमें नहीं। इसमें जो धिषणा है—बुद्धि है, वही इसे मूलका ज्ञान कराती है। वेदने इसीलिये कहा है—**'स धीनां योगमिन्वति'**—प्रभु बुद्धि-योगसे मिलते हैं। योग-दर्शन इसीको विवेकख्याति (यथार्थ ज्ञान)का नाम देता है। धर्म-मेघ-समाधि, जिसमें समस्त क्लेशोंकी समाप्ति है, अजस्र ज्ञान-वर्षा है, यह इसी विवेक ख्यातिवाले योगीको प्राप्त होती है। समस्त परिणामोंका क्रम यहीं आकर समाप्त होता है। वही साधक कृतार्थ है, सफल है और सिद्ध है, जिसे इस विवेकख्यातिकी उपलब्धि हो गयी।

इसी विवेकख्यातिमें पहुँचे हुए ब्राह्मण श्रेष्ठ कुलकी श्रेष्ठ संतति हैं। वे ब्रह्मसान्निध्यमें हैं—इसे अनुभव करते ही रोम-रोम पुलकित हो उठता है। संतान अपने पूर्वजोंके भी पितासे मिलकर अभीष्ट-प्राप्तिसे अध्यायित हो गयी। यह स्वाभाविक भी है, पर जो अपने मूलके समीप है, उसका 'सयुजा' और सखा है, वह इस अहंकारसे भी दूर है। वह **'त्वं अस्माकं तव स्मसि'** से ऊपर **'यदग्ने स्यामहं त्वं त्वं वा घा स्या अहम्'** कह सकता है। वामदेवके **'अहं मनुरभवम्'** आदि शब्दोंमें वैसा ही कथन है, जैसा सख्य या सायुज्यकी दशामें, कोई सिद्ध कहा करता है। निष्कर्ष यह कि हमें अपने मूलरूपसे मिलनेकी साधना करनी चाहिये।

ओम्‌का अन्वेषण

अशेष पूर्वजोंके मूल ब्रह्मका नामधेय ओम् (ॐ) है। सच तो यह है कि उसके 'नाम' (और 'रूप') उपलब्ध ही नहीं होते—न रूपमस्येह तथोपलभ्यते; **क्योंकि उससे भिन्न वे 'नाम' और 'रूप' भी नहीं हैं। नाम तो केवल** वाचारम्भणं विकारो नामधेयम् **है, अर्थात् विकार (विश्व-विकास)का नामधेय वाणीका विलास मात्र है, सत्य तत्त्व नहीं; सत्य तो केवल ब्रह्म ही है—जैसे कनक-कुण्डल कनकसे भिन्न नहीं है, कनक ही है; वैसे ही ब्रह्मके नाम भी ब्रह्मसे भिन्न नहीं हैं—ब्रह्म ही हैं। इसी अभेद-स्वारस्यको स्पष्ट करनेवाला गीताके सत्रहवें अध्यायका २३ वाँ श्लोक—'**ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।**' है, जिसका अर्थ है कि** 'ॐ' 'तत्' **और** 'सत्'**—'यह तीन प्रकारका ब्रह्मका नाम कहा गया है' और जिसके अन्तिम दो चरणोंमें यह भी कह दिया है कि 'उसीसे सृष्टिके आदिकालमें (सबसे पहले) ब्राह्मण, वेद और यज्ञादि विहित हुए—रचे गये।' वस्तुतः उसी मूल पुरुषको स्मरण करने और प्राप्त करनेकी प्रक्रियामें यज्ञ, दान और तपकी क्रियाओंके प्रारम्भमें ॐका उच्चारण विहित है—**'तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः' **आदि। नाम और नामीका अभेद व्याकरणसिद्धान्तसिद्ध है। अतः 'ॐ' का अन्वेषण अपने मूल पुरुषका अन्वेषण है।**

७—विराट्‌रूपमें परमेश्वरका निरन्तर स्मरण करनेके लिये, उसको देश-विशेषसे सम्बद्ध बतानेमें कोई विरोध नहीं है, ऐसा बादरि नामक आचार्य मानते हैं। (वे० द० १।२।३०)

तरेगा तो वही जाके हिरदेमें हरि है

(लेखक—श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

बचपनमें सुनता था, कभी-कभी पूज्य पितृदेवको गुनगुनाते—

तरेगा तो वही जाके हिरदेमें हरि है।
गंगाके नहाये तें जो पापी नर तरि जाहिं।
मीन क्यों न तरे जा को गंगा ही में घर है ॥ तरेगा० ॥
चन्दनके लगाये तें जो पापी नर तरि जाहिं।
सर्प क्यों न तरे जाको मलियागिरि घर है ॥ तरेगा० ॥
माला के फिराये तें जो पापी नर तरि जाहिं।
चरखा क्यों न तरे जो घूमे घर घर है ॥ तरेगा० ॥
शंखके बजाये तें जो पापी नर तरि जाहिं।
गदहा क्यों न तरे जाको शंख जैसो गर है ॥ तरेगा० ॥

पिताजी सन् ३०में ही भगवान्के प्यारे हो गये। पचास साल हो गये उन्हें स्वर्ग गये, पर उनका यह पद आज भी कभी-कभी मुझे उद्वेलित कर देता है। सच ही तो कहते थे वे कि तरनेका, मुक्त होनेका साधन है—हृदयमें प्रभुको बैठाना।

× × ×

गङ्गा-मैयाका स्नान, चन्दनका लेपन, माला फिराना या शङ्ख बजाना—है सबका अपना-अपना महत्त्व। पर ये सब हैं ऊपरी साधन; बाहरी साधन। यदि ये मानवको भीतरी साधनाकी दिशामें बढ़ा सकें तभी इनकी सार्थकता है।

दरिया साहब कहते हैं—

देह अचार किया का होई, भीतर है मन मैला ॥

बात ठीक है; यदि मन मैला है तो देहके आचार-से क्या ?

'जपमाला छापा तिलक सरै न एकौ काम ॥'

मूल प्रश्न है चित्तको शुद्ध करनेका, मैले मनको धोनेका। तुलसी बाबा कहते हैं—

छूटहि मल कि मलहि के धोए ?

दरिया साहब भी यही प्रश्न करते हैं—

मल सेती जो मलको धोवे, सो मल कैसे छूटे ?

मल से मलको धोना क्या ?

हम त्रिपुण्ड्र लगा रहे हैं, माला जप रहे हैं, गङ्गा-स्नान कर रहे हैं, शङ्ख बजा रहे हैं—पर मनमें वासना भरी है कि लोग हमें 'भक्त' कहें, 'भक्तराज' कहें और ऐसा ही समझकर हमारा आदर-सत्कार करें।

पूजा-प्रार्थना हम करते हैं, पर उसमें सच्ची भावना नहीं है, सच्ची लगन नहीं है, तो यह है मलसे मलको धोना।

× × ×

गुरु नानकसे पूछा गया—हमारा मन तो बड़ा पाजी है; बड़ा मैला है। उसे कैसे धोया जाय ? कैसे शुद्ध किया जाय ?—मन मैले सूचा किउ होई ?

बोले—साचि मिले पावे पति सोई ॥[1]

मन धुलेगा—सत्यकी साधनासे।

सत्यकी प्राप्तिसे मिलेगा सत्यनारायण। सत्य ही तो है सत्यनारायण। मन, वचन, कर्मसे सत्यकी साधना करनेसे ही मैला मन शुद्ध हो सकेगा।

बाहरि देव पखाली ऊहि जो मनु धोवै कोइ।
जूठि कहें जीव माजीए मोख पइआणा होइ ॥[2]

शालग्रामकी मूर्ति धोनेसे नहीं, मनको धोनेसे काम बनेगा। मनको धोया कि मोक्षका, मुक्तिका, निर्वाणका मार्ग खुला।

तो बाबा ! क्या उपाय है मनको धोनेका ?[3] उपाय है उसका—

१. गुरुग्रन्थ साहिब, धनासरी महला १, २, पृष्ठ ६८६
२. गुरुग्रन्थ, राग गूँजरी, महला १, पदे धरू १, पृष्ठ ४८९
३. गुरुग्रन्थ, गूँजरी, महला १, पृष्ठ ५०५

हरिजलु निरमलु मनु असनानी ।
भजन सतिगुरु माई ।
पुनरपि जनु नहीं जन संगति ।
जोती जोति मिलाई ॥

भगवन्नामरूपी निर्मल जलमें धोइये मनको, फिर तो ज्योतिमें ज्योति मिलनेमें देर नहीं ।

तुलसी बाबा भी यही उपाय बताते हैं—

राम चरन अनुराग नीर बिनु
मल अति नाश न पावै ॥

दरिया साहब भी यही कहते हैं—

प्रेमका साबुन नामका पानी ।
दोय मिल ताँता टूटे ॥

मतलब ?

मनको धोना है, चित्तको धोना है तो उसे निर्मल हरिजलमें स्नान कराइये । रामचरण-अनुराग-नीरमें उसे नहलाइये । प्रेमके साबुनसे, नामके पानीसे उसे धोइये । अर्थात्—प्रेमपूर्वक प्रभुका नाम जपिये ।

प्रेमपूर्वकका अर्थ है—हृदयसे, अन्तस्तलसे, ऊपर-ऊपरसे नहीं; किसीको दिखानेको नहीं । भक्त या भगतिनि कहलानेको नहीं ।

जबतक मन नहीं धुलता तभीतक हृदयमें विकार रहते हैं । मन स्वच्छ हुआ कि विकारोंका पत्ता कटा—

तब लगि हृदय बसत खल नाना । लोभ मोह मच्छर मद माना ॥
जब लगि उर न बसत रघुनाथा । धरे चाप सायक कटि भाथा ॥

× × ×

तो तरनेका, मुक्त होनेका उपाय है—प्रभुको हृदयमें लाकर बैठाना; वे आये कि सारे विकार गये ।

और प्रभु कैसे आयेंगे ?

वे आयेंगे—रात-दिन प्रेमसे पुकारनेसे । रात-दिन हम उन्हें बुलाते रहें, तो—

कबहुँ तो दीन दयालके भनक परेगी कान ।

बस, उसी क्षण हमारा उद्धार हो जायगा ।

मानव-जीवनमें भक्ति और ज्ञान

(लेखक—डॉ० श्रीकृपाशंकरजी मिश्र)

मानव-जीवनके वास्तविक श्रेय या सच्चे सुखके लिये भक्तिका अत्यधिक योगदान मान्य है । पूज्य श्रीगोस्वामीजीका कथन है—'भगति तात अनुपम सुख मूला'—भक्तिसे अद्भुत सुखराशि प्राप्त होती है । परंतु इस सुखकी कल्पना शरीर-सुख, मन-सुख तथा आत्म-सुखकी भिन्न-भिन्न व्याख्याओंमें अन्तर्निहित है ।

इन्द्रियजन्य सुख आत्माको पूर्ण प्रभावित करनेकी क्षमता नहीं रखते और आत्मसुख तथा दुःखका स्पष्ट प्रभाव इन्द्रियोंको भी पूर्ण प्रभावित नहीं करता, परंतु मनके आधारसे उत्पन्न सुख इन्द्रियोंके सुख-दुःखसे अधिक प्रभावित न होकर भी सुख और आनन्दके बीचकी अप्रकट रेखाका स्पर्शकर आत्मानन्दमें प्रवेशका एक मार्ग-सा बना लेता है । कुछ लोग इस आनन्दको ब्रह्मानन्दका ही अंश कहते हैं । यह आनन्द न्यूनाधिक-रूपमें विषय-सुखमें भी प्रतीत होता है ।

अध्यात्मजगत्में यही विषयप्रतीतिका सुख भक्तिमें रूपान्तरित होकर सात्त्विक बुद्धिकी संज्ञासे अलंकृत एवं 'युक्ताहार-विहार'की विधिसे पुष्ट होता हुआ परमात्मा रामके दिव्यस्वरूपकी ओर उन्मुख कर देता है । कामादि शैवाल-जालसे विमुक्त भक्ति-निर्झरणीकी सुकोमल तरङ्गराशिमें सेवक-सेव्यभाव-गृहीत मानव जब विषयाग्निसे संतप्त होकर उपासनाकी अवतरणिकासे शनैः-शनैः उतरता है, तब उसके इन्द्रियजन्य दुःखोंकी भीषण लपटें प्रेमकी जलराशिमें डूबकर मनःशान्तिसे आत्मशान्ति तथा आत्मानन्दकी ओर आकर्षित होती हैं । जहाँ इन्द्रियोंसे वह विषयवीथियोंमें रमण करता हुआ ममताके कठिन जालमें फँसा था और इससे छूटनेकी सम्भावनाएँ भी अदृश्य-सी प्रतीत होती थीं, वहीं ज्ञान-कृपाणकी तीक्ष्ण धारसे सम्पूर्ण मोह-बन्धका विखण्डन कर भक्तिकी शान्ति-सुरसरिमें छलाँग लगाता है । प्रेमा-

*

भक्तिकी यौवन-उन्मादित तरङ्गोंमें तैरता हुआ साधक अपने स्वामीके लीला-विहार तथा स्वरूपानन्दसुधामें डूब जाता है। जो पूर्वप्रारब्ध-नियोजित इन्द्रियजन्य विषय-दण्ड ताड़नासे त्रस्त कर रहे थे, वे सब प्रभु रामके स्वरूपानन्दमें विसर्जित हो जाते हैं। भक्त अंशभावको परमात्मा रामके पूर्ण सिन्धुमें समर्पित कर जड़-चेतनाभासी अहङ्कारको निमज्जित कर स्वयं आनन्द-सिन्धुमें समा जाता है। यहीं उसके सब कष्ट समाप्त हो जाते हैं।

सुखमें व्यवधान अभक्ति है। अभक्तिका प्रमाद अविद्यासे उत्पन्न षट् विकार है। यह अविद्या (माया) प्रभु श्रीरामकी दासी है तथा नर्तकी भी कही गयी है। **माया खलु नर्तकी बिचारि।** फिर '**भगतिहि सानुकूल रघुराया। ताते तेहि डरपति अति माया॥**'से स्पष्ट प्रमाणित होता है कि श्रीरघुनाथजी सदैव भक्तिप्रियाके अनुकूल रहते हैं और उनकी अनुकूलतासे अविद्याजनित मायाके षट्विकारी नर्तन समाप्तप्राय हो जाते हैं। षट्विकारोंके उन्मूलनसे सुख तथा आनन्दका प्रादुर्भाव स्वयमेव हो जाता है।

गोस्वामीजीने मानसके उपसंहारमें रामभक्तिको मणि कहा है। इस मणिको जो प्रयाससे प्राप्त कर लेता है, वही बुद्धिमान् पण्डित तथा चतुरशिरोमणि है। परंतु मणिकी प्राप्तिसे प्रकाशकी साकार उपलब्धि हुई—ऐसा कहना असङ्गत प्रतीत होता है; क्योंकि भक्तिरूपी मणि सर्वत्र तथा सर्वकालोंमें एक रूपसे विद्यमान है। इसलिये मणि-प्रकाश-साक्षात्कारमें नयन ही मुख्य उपकरण प्रतीत होता है। तुलसीदासका मार्मिक संकेत है—

ग्यान-बिराग नयन उरगारी।

मोहान्धताके परिसरमें इन्द्रियजन्य, मनोजन्य, कर्तृत्वाभिमानजन्य दुःखका अवसान प्रेमा-भक्तिके प्रकाश-आनन्दसे हो जाता है। '**ग्यान नयन निरखत मनमाना**'की द्रुतपथगामिनी तरङ्गोंसे आप्लावित मानव भक्तिमणिके वास्तविक सुखका अधिकारी बन जाता है। अतः भक्ति-मणिकी सुखानुभूतिमें मूल-कारण ज्ञान-'विराग'-नयनका प्राकट्य ही प्रतीत होता है, उपेक्षा नहीं; ज्ञान कृपाणकी धार है, परंतु यह मोहादि दोषोंके लिये ही है, ज्ञानी भक्त तथा ज्ञानके लिये नहीं। जिस प्रकार अग्नि अग्निको विनष्ट नहीं करती, जल जलको नहीं डुबाता, बल्कि परस्पर संगमित होकर महान् सागर बन जाता है, उसी प्रकार ज्ञानी भक्तके लिये ज्ञान कृपाणकी धार नहीं, वरन् सजातीय होनेसे परस्पर आनन्द-वृद्धिका ही कारण बनता है। भक्तिमें ज्ञानकी प्रधानता गोस्वामीजी भी बता रहे हैं।

जाने बिनु न होइ परतीती। बिनु परतीति होइ नहिं प्रीती॥
प्रीति बिना नहिं भगति दिढ़ाई। जिमि खगपति जल कै चिकनाई॥

—से भी पूर्ण ज्ञानकी प्रधानता दृष्टिगोचर होती है। ज्ञानी भक्तको ही सच्ची सुखानुभूति होती है। वह सुख-दुःखसे परे सुख-(आनन्द-) का अधिकारी हो जाता है। समाजमें मानवता जागकर कर्मयोगी साधुका पीताम्बर धारण किये हुए देशकी आर्थिक-नैतिक पीड़ाका निवारण कर देती है। भक्तिका उदय मानव-जीवनके प्रत्येक क्षणमें घटनेवाली घटनाओंमें आनन्दपीयूषका सम्मिश्रण कर देता है। नित्य बुद्धिमत्ताका समावेश व्यक्तिमें तभी स्वीकार्य है, जब वह जीवनकी लौकिक-पारलौकिक उपलब्धियोंसे परिचित होकर उनकी पात्रताके लिये प्रयत्नशील हो जाता है। जीवनके प्रतिपलको भक्तिकी सुखमय भावनासे ओत-प्रोत कर प्राज्ञ पथारूढ़ हुआ मृत्युसे अमरत्वको प्राप्त कर लेता है। रामभक्ति भौतिक जीवनकी सुख-संजीवनी है और आध्यात्मिक जीवनकी नित्यानन्द-निधि।

आधुनिक धर्म-संस्थाओंने ज्ञान तथा भक्तिकी साधनाओं-को पृथक् समझकर समाजमें भी इसका प्रचार किया है। किंतु तुलसीदासजीने अपनी समन्वित काव्य-प्रणालीमें एक मनोरम साम्य प्रकटकर जन-मन-एकता-अभियानमें एक महत्त्वपूर्ण योगदान किया है। साध्यकी द्विविधामें विकल साधकका पथप्रदर्शन करते हुए उन्होंने कहा है—

ग्यानहि भगतिहि नहिं कछु भेदा।
उभय हरहिं भव संभव खेदा॥

तात्पर्य कि यह दोनोंका साध्य गन्तव्य स्थल मूलतः एक ही है। चाहे वह स्वरूप-ज्ञान हो अथवा ईश्वर एवं परमात्मदर्शन, परंतु इस साम्ययुक्त अर्द्धालीके भावार्थको वादोंके चक्करमें उलझा साम्प्रदायिक साधक अपने साध्यको भी पृथक् समझता दिखायी देता है जिसके फलस्वरूप धार्मिक भेद तनाव-दृष्टिके प्राङ्गणमें संघर्षका रूप लेकर सम्पूर्ण अभिज्ञ तथा अनभिज्ञ मानव समाजमें फैलने लगा है।

भक्तिमें प्रेम एवं स्नेहकी प्रधानता और प्रेमका प्रारम्भ 'सेवक-सेव्य' तथा 'प्रेमी-प्रेमास्पद' भावकी पृथक्त्वाभासी रेखासे होता है, परंतु परिपूर्णता एकात्म-संगमकी आनन्दबिन्दुके हिलोरोंमें प्रतिष्ठित है और ज्ञानका श्रीगणेश भी मायानुष्ठित पृथक्त्वभावसे निःसरित पूर्णज्ञान 'मायाप्रपञ्चसे पूर्ण अनभिज्ञ' 'अज्ञान'की समरस वेलामें विलीन होकर एकात्म-स्थितिको प्रमाणित करता है। ज्ञाता, ज्ञान, ज्ञेयका भी विकास-भेद मायासे ही प्रारम्भ होकर इस भेददृष्टिको अभेदमें संनिविष्ट करता है। इस ज्ञानकी पूर्णतामें स्वरूपसे परे किसी मायिक पदार्थ एवं विजातीयका बोध नहीं रहता। वहाँपर एकात्म, एकान्त तथा अद्भुत शान्तिका अनुभवहीन अनुभव होता है।

इसी प्रकार भक्ति साधनामें या 'प्रिय-प्रियतम' सेवक-सेव्यभाव'की पूर्णता पूर्ण समर्पण-भावकी आनन्दमयी वेलामें, सम्मिलन एवं संगममें, जो एकात्म, एकान्त, अद्भुत शान्तिका अनुभव है, उसे उस स्वरूप-ज्ञान अनुभवसे पृथक् मानना असंगत प्रतीत होता है। दोनों पक्षोंकी साधनाएँ स्थूल उपाधिसे सूक्ष्मकी ओर अग्रसर एवं पृथक्त्वाभास बोधसे परे होकर परम-तत्त्वमें एकात्म साध्य स्थितिको प्राप्त हो जाते हैं। अनन्य भक्त 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'की भावनामें 'विश्वरूप रघुवंशमणि'को देखता हुआ स्वयं पृथक् भी रह सकता है, पर ज्ञानी स्वयं उनका स्वरूप है। भेदकी एक अस्पष्ट सम्भावना साधनाकालमें प्रतीत होती है।

स्थूलसे सूक्ष्म साधनामें प्रवेशकी उतनी ही महत्ता है, जितनी इस अस्थि-पिञ्जरधारी देहमें सूक्ष्म, कारण-शरीर तथा जीवकी। सूक्ष्मातिसूक्ष्म जीव तथा स्थूल एवं सूक्ष्मके मापदण्डसे परे परमात्माके अस्तित्वके प्रत्यक्षी-करणमें एवं जीवके कल्याणमें भी स्थूल तथा सूक्ष्म मायिक शरीरका परस्पर समान समन्वयात्मक योगदान है।

इसी तरह साधनामें भी स्थूलता, सूक्ष्मता तथा कारणताके अतिक्रमणके पश्चात् परमपदकी निर्विशेष एवं दिव्य सविशेष अवस्थाओंकी उपलब्धि होती है। मायिक शरीरकी स्थूल उपाधि व्यवहार-कर्मकी प्रधानतामें तथा सूक्ष्म व्यवहार भक्तिमें तथा कारण व्यवहार परोक्ष-ज्ञान (वृत्यात्मक ज्ञान)में होते हैं। वह व्यवहारकी रेखासे दूर परंतु संनिकट आभासित सूक्ष्मातिसूक्ष्म तथा (वृत्तिरहित ज्ञान) स्वरूपज्ञानकी ओर प्रवाहित होकर अज्ञानावृत कर्म तथा भक्तिके स्वरूपसे निःसृत साध्य बिन्दुकी अप्रकट रेखाका स्पर्शकर आनन्दकी परा-काष्ठाको उपलब्ध हो जाता है। तब साधकको अज्ञाना-च्छन्न कर्मों तथा उपासनाके व्यवहारोंकी विशेष आवश्यकता नहीं रह जाती। परंतु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं कि भक्ति एवं कर्मकी उपेक्षा की जाय; क्योंकि यह साध्य रामस्वरूप ज्ञानकी प्राप्तिका सबल एवं सजग अवलम्ब है। बिना इसके परमतत्त्वको प्राप्त करना असम्भव है। अतः अध्यात्म-जगत्में कर्मको पार्थिव (स्थूल) शरीर तथा भक्ति सूक्ष्म साधन शरीर और वृत्त्यात्मक ज्ञानको कारण शरीर एवं जीवभाव और वृत्तिरहित ज्ञान (कैवल्य तथा निर्वाण) को सहज ब्रह्मस्वरूप एवं साध्य बिन्दु माना जाना चाहिये। गोस्वामीजीके शब्दोंमें इस प्रकार'''जानत तुमहि तुमहि होइ जाई। की बात स्पष्ट हो जाती है।

गीताका कर्मयोग–२६

[श्रीमद्भगवद्गीताके तीसरे अध्यायकी विस्तृत व्याख्या]

(लेखक—परमश्रद्धेय स्वामीजी श्रीरामसुखदासजी महाराज)

(गताङ्क–८, पृष्ठ-सं० ३२३ से आगे)

श्लोक

यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः ।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः ॥२३॥
उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम् ।
संकरस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः ॥२४॥

भावार्थ—हे पार्थ ! यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्तव्य-कर्म न करूँ, तो बहुत हानि हो जाय; क्योंकि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका ही अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि मैं कर्म न करूँ, तो वे भी कर्तव्य-कर्मकी उपेक्षा करेंगे, जिससे उनका समय तमोगुण (प्रमाद-आलस्य-)में व्यतीत होगा; फलस्वरूप उन्हें नरकों तथा चौरासी लाख योनियोंकी प्राप्ति होगी ।

यदि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ, तो ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और मैं कर्मसंकर, धर्मसंकर, उपासनासंकर, वर्णसंकर, आश्रमसंकर, जातिसंकर आदि संकर-दोषोंको उत्पन्न करनेवाला बन जाऊँगा और इस प्रकार समस्त प्रजाका नाश करनेवाला हो जाऊँगा (जो इष्ट नहीं हैं)।

उपर्युक्त श्लोकोंमें भगवान्‌का तात्पर्य यह है कि मनुष्यको किसी भी अवस्थामें कर्तव्य-कर्मका त्याग नहीं करना चाहिये। उसे निःस्वार्थभावसे, केवल दूसरोंके हितके लिये, कर्तव्यबुद्धिसे सावधानीपूर्वक कर्तव्य-कर्म करते रहना चाहिये। वास्तवमें मनुष्य कहलानेयोग्य वही है, जो भगवान्‌को आदर्श मानकर अपने कर्तव्य-कर्मका पालन करता है ।

पिछले (बाईसवें) श्लोकमें भगवान्‌ने अन्वय-रीतिसे कर्तव्य-पालनकी आवश्यकताका प्रतिपादन किया और इन श्लोकोंमें भगवान् व्यतिरेक-रीतिसे कर्तव्य-पालन न करनेसे होनेवाली हानिका प्रतिपादन करते हैं ।

अन्वय—

हि, पार्थ, यदि, जातु, अहम्, अतन्द्रितः, कर्मणि, न, वर्तेयम्, मनुष्याः, सर्वशः, मम, वर्त्म, अनुवर्तन्ते ॥२३॥

चेत्, अहम्, कर्म, न, कुर्याम्, इमे, लोकाः, उत्सीदेयुः, संकरस्य, कर्ता, स्याम्, च, इमाः, प्रजाः उपहन्याम् ॥२४॥

पद-व्याख्या—

हि—क्योंकि;

पूर्वश्लोकमें आये **'वर्त एव च कर्मणि'** पदोंकी पुष्टिके लिये यहाँ 'हि' पद आया है ।

पिछले श्लोकमें **'वर्त एव च कर्मणि'** पदोंसे भगवान्‌ने यह कहा था कि मैं बहुत सावधानी और तत्परतापूर्वक लोकहितार्थ कर्तव्य-कर्म करता हूँ । अब इस श्लोकमें भगवान् 'हि' पदसे अपनेद्वारा कर्तव्य-कर्म करनेका हेतु बतलाते हैं ।

पार्थ—हे पृथानन्दन !

यदि जातु अहम् अतन्द्रितः कर्मणि न वर्तेयम्—यदि कदाचित् मैं सावधान होकर कर्मोंमें न बरतूँ (तो बहुत हानि हो जाय)।

मैं सावधानीपूर्वक कर्म न करूँ—ऐसा हो ही नहीं सकता; परंतु 'यदि ऐसा मान लें' कि मैं कर्म न करूँ—इस अर्थमें भगवान्‌ने यहाँ 'यदि जातु' पदोंका प्रयोग किया है ।

'अतन्द्रितः' पदका तात्पर्य यह है कि कर्तव्य-कर्म करनेमें आलस्य और प्रमाद नहीं करना चाहिये, अपितु उन्हें बहुत सावधानी और तत्परतासे करना चाहिये । सावधानीपूर्वक कर्तव्य-कर्म न करनेसे मनुष्य आलस्य और प्रमादके वशमें होकर अपना अमूल्य जीवन नष्ट कर देता है ।

कर्मोंमें शिथिलता (आलस्य-प्रमाद) न लाकर उन्हें सावधानी एवं तत्परतापूर्वक करनेसे ही कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद होता है। जैसे वृक्षकी कड़ी टहनी टूट जाती है, पर शिथिल (ढीली) टहनी नहीं टूटती, वैसे ही सावधानीपूर्वक कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद हो जाता है, पर आलस्य-प्रमादपूर्वक (शिथिलतापूर्वक) कर्म करनेसे कर्मोंसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं होता । इसीलिये भगवान्‌ने उन्नीसवें श्लोकमें 'समाचर' पदका तथा इस श्लोकमें 'अतन्द्रितः' पदका प्रयोग किया है।

यदि किसी कर्मकी बार-बार याद आती है, तो यही समझना चाहिये कि कर्म करनेमें कोई त्रुटि (कामना, आसक्ति, अपूर्णता, उपेक्षा आदि) हुई है, जिसके कारण उस कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद नहीं हुआ है। कर्मसे सम्बन्ध-विच्छेद न होनेके कारण ही किये हुए कर्मकी याद आती है।

मनुष्याः सर्वशः मम वर्त्म अनुवर्तन्ते—(क्योंकि) मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।

इसी अध्यायके इक्कीसवें श्लोकमें भगवान्‌ने कहा था कि श्रेष्ठ पुरुषके आचरण और प्रमाणके अनुसार सब मनुष्य उनका अनुसरण करते हैं, और इस श्लोकमें भगवान् कहते हैं कि मनुष्य सब प्रकारसे मेरे मार्गका अनुसरण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि श्रेष्ठ पुरुष तो एक ही लोक (मनुष्यलोक) में आदर्श पुरुष हैं, पर मैं तीनों ही लोकोंमें आदर्श पुरुष हूँ*।

मनुष्यका आदर्श क्या है; उसे संसारमें कैसे रहना चाहिये—यह बतलानेके लिये भगवान् मनुष्यलोकमें अवतरित होते हैं। संसारमें अपने लिये रहना ही नहीं है—यही संसारमें रहनेकी विद्या है। संसार वस्तुतः एक विद्यालय है, जहाँ हमें कामना, ममता, स्वार्थ आदिके त्यागपूर्वक दूसरोंके हितके लिये कर्म करना सीखना है। पिता, पुत्र, पति, पत्नी, भाई, बहन आदि सबको चाहिये कि वे दूसरेका कर्तव्य न देखकर अपने-अपने कर्तव्यका पालन करें और एक-दूसरेके कल्याणकी चेष्टा करें। संसारके सभी सम्बन्धी सेवा (हित) करनेके लिये ही हैं।

उपर्युक्त पदोंसे भगवान् मानो यह कहते हैं कि मेरे मार्गका अनुसरण करनेवाले ही वास्तवमें 'मनुष्य' कहलानेयोग्य हैं। जो मुझे आदर्श न मानकर आलस्य-प्रमादवश कर्तव्य-कर्म नहीं करते, वे आकृतिसे मनुष्य होनेपर भी वस्तुतः मनुष्य कहलाने योग्य नहीं हैं।

चेत् अहम् कर्म न कुर्याम्—यदि मैं कर्म न करूँ (तो)।

यद्यपि ऐसा हो ही नहीं सकता कि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ, तथापि यदि ऐसा मान लिया जाय—इस अर्थमें भगवान्‌ने यहाँ 'चेत्' पदका प्रयोग किया है।

भगवान्‌ने तेईसवें श्लोकमें **यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः** पदोंसे कर्मोंमें सावधानी न रखनेसे होनेवाली हानिकी बात कही और अब इस (चौबीसवें) श्लोकमें उपर्युक्त पदोंसे कर्म न करनेसे होनेवाली हानिकी बात कहते हैं।

इन पदोंसे भगवान्‌का मानो यह तात्पर्य है कि मनुष्यकी कर्म न करनेमें आसक्ति नहीं होनी चाहिये—**मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि** (गीता २। ४७)। इसीलिये भगवान् अपना उदाहरण देते हुए कहते हैं कि मेरे लिये कुछ भी प्राप्तव्य न होनेपर भी मैं कर्म करता हूँ। यदि मैं कर्म न करूँ, तो बहुत हानि हो जाय।

* श्रीमद्भगवद्गीताके पहले अध्यायमें भगवान्‌ने अपने-आपको सारथिके रूपमें प्रकट किया (१। २१, २४)। फिर जैसे-जैसे अर्जुनका भाव बढ़ता गया, वैसे-वैसे ही भगवान् अपने-आपको उत्तरोत्तर श्रेष्ठ प्रकट करते गये। इस प्रकार दूसरे अध्यायमें भगवान् गुरु-रूपसे प्रकट हुए, जिसे अर्जुनने 'शिष्यस्तेऽहम्' (२। ७) कहकर स्वीकार किया। अब तीसरे अध्यायमें भगवान् अर्जुनसे कहते हैं कि मैं केवल तुम्हारा गुरु नहीं, अपितु त्रिलोकीका गुरु—आदर्श पुरुष हूँ। अतएव त्रिलोकीके समस्त प्राणी मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं।

इमे लोकाः उत्सीदेयुः—ये सब मनुष्य नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ।

भगवान् कहते हैं कि यदि मैं (जिस वर्ण, आश्रम आदिमें मैंने अवतार लिया है, उसके अनुसार) अपने कर्तव्यका पालन न करूँ, तो त्रिलोकीमें सम्पूर्ण प्राणी नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ अर्थात् उनका पतन हो जाय। अपने कर्तव्यका त्याग करनेसे मनुष्योंमें तामसी-भाव आ जाता है, जिससे उनकी अधोगति होती है—**अधोगच्छन्ति तामसाः** (गीता १४। १८)।

भगवान् त्रिलोकीमें आदर्श पुरुष हैं और सम्पूर्ण प्राणी उन्हींके मार्गका अनुसरण करते हैं। इसलिये यदि भगवान् कर्तव्यका पालन नहीं करेंगे, तो त्रिलोकीमें भी कोई अपने कर्तव्यका पालन नहीं करेगा। अपने कर्तव्यका पालन न करनेसे उनका अपने-आप पतन हो जायगा।

अपने कर्तव्यका पालन किये बिना प्राप्तव्यकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इसलिये अपने कर्तव्यका पालन करना प्रत्येक मनुष्यके लिये अत्यावश्यक है।

संकरस्य कर्ता स्याम्—(मैं) संकरताको करनेवाला बनूँ।

परस्परविरुद्ध दो धर्म (भाव) एकमें मिल जायँ, तो वह 'संकर' कहलाता है।

पहले अध्यायके चालीसवें और इकतालीसवें श्लोकमें अर्जुनने कहा था कि 'यदि मैं युद्ध करूँगा तो कुलका नाश हो जायगा। कुलके नाशसे सनातन कुल-धर्म नष्ट हो जाता है; धर्मके नष्ट होनेपर सम्पूर्ण कुलमें पाप फैल जाता है; पापके अधिक बढ़नेपर कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं और स्त्रियोंके दूषित होनेपर वर्णसंकर उत्पन्न होता है।' इस प्रकार अर्जुनका भाव यह था कि युद्ध करनेसे वर्ण-संकरता उत्पन्न होगी; परंतु यहाँ भगवान् उससे विपरीत बात कहते हैं कि युद्धरूप कर्तव्य-कर्म नहीं करनेसे वर्ण-संकरता उत्पन्न होगी। इस विषयमें भगवान् अपना उदाहरण देते हैं कि यदि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ, तो कर्म, धर्म, उपासना, वर्ण, आश्रम, जाति आदि सबमें स्वतः संकरता आ जायगी। तात्पर्य यह है कि कर्तव्य-कर्म न करनेसे ही संकरता उत्पन्न होती है। इसलिये यहाँ भगवान् अर्जुनसे मानो यह कहते हैं कि तू युद्धरूप कर्तव्य-कर्म न करनेसे ही वर्णसंकर उत्पन्न करनेवाला बनेगा, न कि युद्ध करनेसे (जैसा कि तू मानता है)।

च—और

इमाः प्रजाः उपहन्याम्—इस समस्त प्रजाको नष्ट करनेवाला बनूँ।

भगवान् कहते हैं कि यदि मैं कर्तव्य-कर्म न करूँ, तो सब लोक नष्ट-भ्रष्ट हो जायँ और उनके नष्ट होनेका कारण मैं ही बनूँगा (जबकि ऐसा उचित नहीं है)।

विशेष बात

अर्जुनके मूल प्रश्न-(मुझे घोर कर्ममें क्यों लगाते हो ?-)-का उत्तर भगवान् तीन (बाईसवें, तेईसवें और चौबीसवें) श्लोकोंमें अपने उदाहरणसे देते हैं कि मैं तुझे ही कर्ममें लगाता हूँ—ऐसी बात नहीं है, अपितु मैं स्वयं भी कर्ममें लगा रहता हूँ, जबकि वास्तवमें मेरे लिये त्रिलोकीमें कुछ भी कर्तव्य एवं प्राप्तव्य नहीं है।

भगवान् अर्जुनको मानो इस बातका संकेत करते हैं कि अभी इस अवतारमें तुमने भी स्वीकार किया और मैंने भी स्वीकार किया कि तू रथी बने और मैं सारथि बनूँ; तो देख, क्षत्रिय होते हुए भी आज मैं तेरा सारथि बना हुआ हूँ और इस प्रकार स्वीकार किये हुए अपने कर्तव्यका सावधानी और तत्परतापूर्वक पालन कर रहा हूँ। मेरे इस कर्तव्य-पालनका भी त्रिलोकीपर प्रभाव पड़ेगा; क्योंकि मैं त्रिलोकीमें आदर्श पुरुष हूँ; समस्त प्राणी मेरे ही मार्गका अनुसरण करते हैं। इस प्रकार तुम्हें भी मेरी तरह अपने कर्तव्य-कर्मकी उपेक्षा न करके उसका सावधानी एवं तत्परतापूर्वक पालन करना चाहिये। (क्रमशः)

परमसत्ताकी कृपासे मुक्ति

(लेखक—श्रीकृष्णकान्तजी व्यास, एम्० ए०, शोधछात्र)

पुरुषार्थ-चतुष्टयमें अन्यतम मोक्षकी प्राप्ति मानव-जीवनका परम लक्ष्य निर्धारित है और उसीके लिये मानवको प्रयत्नशील होना चाहिये। मोक्ष या अमृतत्व-प्राप्तिके लिये कटिबद्ध मानवको परमसत्ताके प्रति निरन्तर निवेदन करना चाहिये। कालान्तरमें उस निवेदन-द्वारा परमसत्ताके बोधके पश्चात् उसके लिये कुछ भी शेष नहीं रह जाता। उसका भ्रम नष्ट हो जाता है तथा वह पूर्णकाम एवं आप्तकाम हो जाता है। उसके लिये सभी कुछ हस्तामलकवत् (हाथमें रखे आँवलेकी भाँति) स्पष्ट हो जाता है। ब्रह्मको जाननेवाला ब्रह्म ही हो जाता है[1]।

शास्त्र परमसत्ताकी व्याख्या नहीं करते, क्योंकि वह यथार्थमें अनुव्याख्येय है। वह बुद्धिबलद्वारा जानने योग्य नहीं; क्योंकि वहाँतक बुद्धि जाती ही नहीं। इसी कारणसे यह कहा गया है कि 'यह आत्मा न तो प्रवचनसे, न मेधासे और न बहुत सुननेसे ही प्राप्त हो सकता है[2]।' इसीलिये परमसत्ताके बोधनमें निवेदनात्मक भाव अर्थात् भक्ति ही मनीषियों, साधकों एवं विद्वानोंके लिये सर्वदासे आकर्षणका केन्द्र रही है[3]। और, तपद्वारा उन्होंने परमसत्ता-रूप ब्रह्मका साक्षात्कार भी किया है[4]। उनकी दृष्टिमें अधिक शास्त्राभ्यास परमसत्ताके ज्ञानमें बाधक ही है[5], साधक नहीं; क्योंकि वह तो वाणीका श्रम ही है। हाँ, शास्त्रोंका उपयोगमात्र सके संकेतकके रूपमें ही स्वीकार्य हो सकता है। वास्तवमें तो तप या भक्ति ही उसके ज्ञानका हेतु है। यह कहा गया है कि तपसे ब्रह्म उपचयको प्राप्त होता है[6]। तपसे ब्रह्मको जाननेकी कोशिश करे[7]।

निश्चय ही स्वाभाविकरूपसे प्रश्न उपस्थित होता है कि तपसे उपचयको प्राप्त ब्रह्मका स्वरूप क्या है? वरुणद्वारा भृगुको दिये गये ब्रह्मके इस लक्षणके कि 'जिससे यह सब भूत उत्पन्न होते हैं, जिससे जीवित रहते हैं और अन्तमें जिसमें लीन हो जाते हैं[8]'—आधारपर साधक तपद्वारा अन्तिमरूपसे परमसत्ताको आनन्दरूप जान पाता है[9]। यह सत्यस्वरूप है, ज्ञान-स्वरूप है तथा अनन्तस्वरूप है।[10] यह भूमा (सर्वतो व्याप्त) है और जो भूमा है, वही अमृतस्वरूप है, आनन्दस्वरूप है[11]। इस प्रकार ऋषिकी दृष्टिमें आनन्द ही ब्रह्मका स्वरूप है; क्योंकि वह रसस्वरूप है[12]। यहाँ रस शब्द आनन्दका ही वाचक है; क्योंकि मन्त्रमें कहा गया है कि रसको प्राप्तकर ही आनन्दयुक्त होता है[13]। आगे वहीं उत्तरोत्तर आनन्दोंका वर्णन किया गया है[14], जो इस बातका पुष्ट प्रमाण है कि आनन्द ही परमसत्ताका स्वरूप है।

यह आनन्दरूप ब्रह्म अनिर्वचनीय है। यह वह है जहाँसे वाणी मनके सहित, उसे बिना प्राप्त किये वापस लौट आती है[15]। यही अन्यत्र तुरीय संज्ञासे बोधित किया गया है। यह न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिःप्रज्ञ है, न उभय प्रज्ञ है। न प्रज्ञा है, न घन है, न प्रज्ञ है, न अप्रज्ञ है। यह अदृष्ट है, अव्यवहार्य

१-मु० उ० ३।२।९, २-कठोप० १।२।२३, मु० उ० ३।२।३, ३-श्वेता० ६।५, ६।१८, ४-श्वेता० ६।२१, ५-बृ० उ० ४।४।२१, ६-मु० उ० १।२।८, ७-तै० उ० ३।२ इत्यादि ८-तै० उ० ३।१, ९-तै० उ० ३।६, १०-तै० उ० २।१, ११-छा० उ० ७।२३।१, १२-तै० उ० २।७, १३-तै० उ० २।७, १४-तै० उ० २।८, १५-तै० उ० २।९,

है, अलक्षण है तथा अचिन्त्य है। यह अव्यपदेश्य (नहीं बताने योग्य), एकात्मप्रत्यय-सार (एक आत्म विश्वासी तत्त्व) तथा प्रपञ्चोपशम है[१६]। इस प्रकारके आनन्दरूप ब्रह्मको जाननेवाला किसीसे भी भय नहीं करता[१७]। वह अभय हो जाता है अर्थात् अमर हो जाता है एवं जन्म-मरणके चक्रसे छूट जाता है।

आनन्दरूप ब्रह्म कोई अलभ्य, अलौकिक और अद्भुत पदार्थ नहीं है; प्रत्युत प्रत्येक प्राणी उसे स्वान्तःस्थ नियामक अंगुष्ठमात्र पुरुषरूप किंवा निर्विकार निर्विशेष चैतन्य सत्तात्मक स्वरूपसे अनुभव करता है। अतएव ब्रह्मका साक्षात्कार करने तथा उसे पहचाननेका सर्वोत्तम उपाय तपस्या, दम (मन, इन्द्रियोंका नियन्त्रण) तथा कर्म (निष्काम) है[१८]। फिर तो ओंकार ही धनुष है, आत्मा ही बाण है, ब्रह्म ही लक्ष्य है, प्रमादरहित मनुष्यद्वारा ही (वह) बींधा जानेयोग्य है। अतः उस लक्ष्यमें तन्मय हो जाना चाहिये[१९]। और, इसीलिये निर्दिष्ट आचारपक्षका अनिवार्यरूपसे, ध्यानपूर्वक सम्पादन करना ही मानवमात्रके लिये अभीष्ट होना चाहिये; क्योंकि एकमात्र यही उद्घोष किया गया है कि यदि इस जन्ममें जान लिया तब तो बहुत अच्छा है और 'यदि इस शरीरके रहते-रहते नहीं जान पाया तो महान् विनाश है'[२०]। स्पष्ट है कि मानव-शरीर दुर्लभ है। इस जन्ममें ही परमतत्त्वको जाननेमें तत्परताके साथ लग जाना चाहिये। इसीमें मानव-जीवनकी सार्थकता है। यदि वह नहीं लगता है तो बहुत बड़ी भूल करता है। यह ध्यान रखना होगा कि परमतत्त्वकी प्राप्तिमें यद्यपि उपर्युक्त ये साधन सहायक हैं तथापि वह अर्थात् परमतत्त्व अपने यथार्थस्वरूपको उसीके लिये प्रकट करता है, जिसको वह स्वीकार कर लेता है और वही उसको प्राप्त भी कर सकता है[२१]। अतः स्पष्ट है कि आत्मज्ञान परमतत्त्व-कृपा साध्य ही है।

अतएव संक्षेपमें यही कहा जा सकता है कि मानव-जीवनका एकमात्र लक्ष्य परमतत्त्वका ज्ञान प्राप्त करना है। उसकी प्राप्तिमें आचारपूर्वक जीवन व्यतीत करना तथा तप एवं भक्ति सहायक हैं। तत्पश्चात् भक्तिके माध्यमसे ही आनन्दस्वरूप वह 'अनुभवनीय है'—यह ज्ञान होता है। ऐसा ज्ञान हो जानेपर भक्तको यही मानना चाहिये कि भगवत्-चरणारविन्दमें प्रेम परमसत्ताकी कृपा या अनुग्रहसे ही उसे प्राप्त हुआ है और तभी वह उसका यथार्थ स्वरूप समझ सकनेमें समर्थ हुआ है। इसी लिये आचार्य वल्लभने पुष्टि-पद्धति (अनुग्रहसरणी) को मान्य किया जिसमें **'पोषणं तदनुग्रहः'** (श्रीमद्भागवत २। १०। ४) मूलभूत सिद्धान्त है। गोस्वामी तुलसीदासजीने भी ऐसा ही कुछ समझा था; तभी तो उन्होंने 'विनय'में कहा है—

'अस कछु समुझि परै रघुराया।
बिनु तव कृपा दयालु दीन हित मोह न छूटै माया॥

रामकृपासे ही जीवको विश्राम

बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग।
मोह गएँ बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग॥
बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु।
रामकृपा बिनु सपनेहुँ जीव न लह बिश्रामु॥

(दोहावली—१३२-१३३)

१६-मा० उ० ७, १७-तै० उ० २। ९, १८-केन० ४। ८, १९-मु० उ० २। २। ४, २०-केन० २। ५, २१-कठो० १। २। २३, मु० उ० ३। २। ३।

स्वामी हरिदास और उनकी साधना

(लेखक—श्रीरामलालजी श्रीवास्तव)

रसिकशेखर स्वामी हरिदास उच्चकोटिके सिद्ध संत थे। भारतीय इतिहासके मध्यकालमें उन्होंने गोपी-प्रेमके माध्यमसे युगलस्वरूप राधा-कृष्णकी निकुञ्जलीलामाधुरीका रसास्वादन किया। उनके उपास्य एवं प्राणधन भगवान् बाँकेविहारी थे। इन्हें वे कुञ्जविहारी कहते थे। स्वामी हरिदास परम वैराग्यनिधि और भक्तोंके कामना-कल्पतरु थे। महात्मा नाभादासके गुरु स्वामी अग्रदासने उनकी वन्दना इस प्रकार की है—

नमो नमो श्रीहरिदास वृन्दाविपिनवास
वर प्रान सरबस बाँके बिहारी।
स्यामा-स्याम जुगल रूप माधुर्यके
रसिक रिझवार प्रेम अवतारी॥
परम वैरागनिधि बसत निधुबन सदा
भावनालीन सुप्रवीन भारी।
कामनाकल्पतरु सकलसंतापहर
अग्रदास अति कल्यानकारी॥
(भक्तमाल)

उस समय महाप्रभु वल्लभाचार्य और गुसाईं विट्ठलनाथके उपास्य श्रीनाथजी और नवनीतप्रिय, हित-हरिवंशके राधावल्लभ, रूप-सनातन गोस्वामीके गोविन्ददेव और स्वामी हरिदासजीके कुञ्जविहारीके सरस गुणानुवाद-से वृन्दावनके कण-कण पवित्र और रसमग्न थे। बादशाह अकबरके राजत्वने देशकी राजनीतिक स्थिति शान्त और सामान्य कर दी थी; प्रजा सुखी थी। ऐसे समयमें रससिद्ध स्वामी हरिदासकी निकुञ्जलीलामाधुरीकी उपासनासे जनजीवनमें भागवत सौन्दर्यका सागर उमड़ पड़ा; उनकी कुटीके सामने राजा-महाराजाओं और जन साधारणकी अपार भीड़ लगी रहती थी। भक्तमालमें नाभादासजीका कथन है—

जुगल नाम सों नेम जपत नित कुञ्जबिहारी।
अवलोकत नित रहैं केलि सुखके अधिकारी॥
गान कला गंधर्व स्याम-स्यामा को तोषैं।
उत्तम भोग लगाय मोर मरकट तिमि पोषैं॥
नित नृपति द्वार ठाढ़े रहैं दरसन आसा आस की।
अस आस धीर उद्योतकर रसिक छाप हरिदासकी॥

अष्टछापके कवीश्वर गोविन्ददासका कथन है कि जिस पथपर ध्यानसमाधि लगानेवाले महामुनि भी नहीं चल पाते हैं, उसी पथको स्वामी हरिदासने अपनाकर रसकी रीति चलायी।

स्वामी हरिदासका जन्म वृन्दावनसे मथुरा जानेवाली सड़कके किनारे एक ग्राम राजपुरमें संवत् १५३७ वि०में भाद्रशुक्ला अष्टमीको हुआ था। स्वामी पीताम्बर-दासके शिष्य किशोरदासद्वारा (१८१० वि०में) रचित 'निजमतसिद्धान्त' ग्रन्थमें इसका सुस्पष्ट उल्लेख है—

संवत पन्द्रह सौ सैंतीसा। भादों सुकुल अष्टमी दीसा।
बुधवार मध्याह्न विचार्यो। श्रीहरिदास प्रगट तनु धार्यो॥

संत ललितकिशोरीजीने भी इसकी पुष्टि की है। 'सिद्धान्तरत्नाकर'का प्रमाण है—

भादों सुकुल अष्टमी भूपर प्रगटे श्रीहरिदास।
घर घर प्रति अति होत कुलाहल नर नारीन हुलास॥
उदित मुदित दुति भानु किरन ज्यों पूरन प्रेम प्रकास।
विपुल विनोद भयो सबहिन के संग बिहारिन दास॥

स्वामी हरिदासके पिता श्रीगङ्गाधरजी ब्राह्मण-कुलके रत्न थे, उनकी माता चित्रादेवी अत्यन्त साध्वी स्त्री थीं। बचपनमें स्वामी हरिदास भगवान् कृष्णकी लीलाओंका एकान्तमें चिन्तन करते थे। यद्यपि पिताने उनमें वैराग्यका भाव देखकर संगीत, काव्य आदिकी शिक्षा देकर गृहस्थाश्रममें रखना चाहा, पर हरिदासने अखण्ड ब्रह्मचर्यका पालन करते हुए पचीस सालकी अवस्थामें वृन्दावन आकर स्वामी आशुधीरसे गुरुमन्त्रकी दीक्षा लेकर निधुवनमें निवास कर लिया। महात्मा रसिकदेव-कृत गुरु-परम्परामें उल्लेख है—

आशुधीरस्य शिष्यो यो हरिदासः प्रकीर्तितः।
दयादिगुणसम्पन्नः सनाढ्यद्विजवंशजः॥
अनन्याधिपतिः श्रीमान् गुरूणां च गुरुः प्रभुः।
सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञो भक्तिवैराग्यवारिधिः॥

संवत् १५६२ वि०में उन्होंने दीक्षा ली और आराधनामें लग गये। निधिवन अथवा निधुवनमें १५६७ वि०में एक विवरसे उनके उपास्य बाँकेविहारीजी-की मूर्ति प्रकट हुई। प्रकटन-तिथि मार्गशीर्ष शुक्ला पञ्चमी थी। स्वामीजीने उसकी विधिवत् स्थापना की। उन्होंने उपास्यसे कहा—

काहू को बस नाहिं तुम्हारी कृपाते सब होय बिहारी-बिहारिनि।
और मिथ्या प्रपंच काहे को भाखिये सो तो है हारिनि॥
जाहि तुम सो हित तासों तम हित करौ सब सुख कारनि।
हरिदास के स्वामी स्यामाकुञ्जबिहारी, प्राननिके आधारनि॥

उन्होंने कहा कि वृन्दावनके प्रेमदेवता विहारी और विहारिनि श्रीराधारानीकी कृपासे सब कुछ सम्भव है। उनके उपास्य रसराजेश्वर श्रीकृष्णकी शोभाका वर्णन करना करोड़ों कवियोंके समवेत स्वरसे भी असम्भव है—

हरिदासके स्वामी स्यामा कुंजबिहारी की सोभा,
बरनी न जाइ जौ मिलैं रसिक कोटि कवि॥

स्वामी हरिदासजीकी चेतना राधाकृष्णके रसरंगमें सदा सराबोर रहती थी। एक बार यमुनाजीकी रेतीमें वे भगवान्‌की मानसी होलीलीलामें विभोर थे। उनके नेत्र रंगविहारका दर्शन कर रहे थे, उनके शब्दोंमें ही उनका भावदर्शन कीजिये—

रचि के प्रकास परस्पर खेलन लागे।
राग रागनि अलौकिक उपजत नृत्य संगीत अलग लाग लागे।
रागु ही में रंग रह्यो रंग समुद्रमें दोऊ झागे॥
हरिदासके स्वामी स्यामा कुंजबिहारी पै रंगु रह्यो रस ही में पागे।

इसी समय एक सेवकद्वारा प्रदान की गयी इत्र-भरी शीशी उन्होंने रेतीमें उड़ेल दी। सेवकको वेदना हुई कि इत्र व्यर्थ हो गया। बाह्य ज्ञान होनेपर स्वामीजीने उसे मन्दिरमें जाकर विहारीजीके दर्शनका आदेश दिया। सारा मन्दिर इत्रसे सुवासित था। उनकी लीलाका वर्णन करते हुए एक कवित्तमें भक्तमालके 'रसबोधिनी'के टीकाकार प्रियादासकी स्वीकृति है कि—

स्वामी हरिदास रसरासि को बखान सकै
रसिकता की छाप जोइ जाइ मधि पाइयै।
ल्यायो कोउ चोवा वाको अति मन भोवा
यामें डारयो यह पुलिन यह खोवा हिम आइयै॥
जानि कै सुजान करी लै दिखायो लाल
प्यारे नेसुक उघारे पट सुगन्ध बुड़ाइयै॥

एक बार बादशाह अकबरने संगीतसम्राट् तानसेनसे प्रश्न किया कि क्या तुमसे भी बढ़ कर गानेवाले हैं? तानसेनने निवेदन किया कि वृन्दावनके मेरे गुरु स्वामी हरिदासजी मुझसे भी उच्चकोटिके संगीतज्ञ हैं। वे वृन्दावन छोड़कर कहीं भी आते-जाते नहीं हैं। बादशाह सादे नागरिक वेशमें तानसेनके साथ उनसे मिलने गया। तानसेनने स्वामीजीके सामने जानबूझकर एक गलत राग गाया, उसकी इच्छा थी कि स्वामीजी किसी भी तरह बादशाहके सामने गायें। उसे भय था कि कहीं अकबर नाराज होकर मुझे मरवा न डाले। स्वामीजीने ठीक ढंगसे उसी रागमें एक पद गाया। भक्तमालकी प्रियादासरचित टीकासहित १८६१ वि०की लिखी कवि प्रवीनरायकृत एक पोथीमें, जो गोरेलाल मन्दिरके संग्रहमें है, इसका उल्लेख है। नाभादासद्वारा कथित—'गानकला-गन्धर्व पै' टिप्पणी इस प्रकार है—

तानसेनके षिजिमतदार पातसाहि के राग सुन्यो वह प्रसङ्ग—

कै सुजान सोधो सरस, कै सुन्दर कल गान।
इनही के कर मीच है मेरी मेरे जान॥
तानसेन चूकी कै पद गायौ। स्वामीजीनैं गायौ उही। तब कही वै प्रभु मुख देखि। मैं आपको मुख देखि-इहि ये भेद॥'

आशय यह कि अकबरने पूछा—'स्वामीजीके पदगानमें सरस दिव्यता क्यों है?' तानसेनने समाधान किया कि मैं आपके लिये गाता हूँ; स्वामीजी भगवान्‌को

प्रसन्नताके लिये गाते हैं। इस प्रसङ्गका ऐतिहासिक विवरण बादशाह औरंगजेबके समकालीन कृष्णगढ़-नरेश महाराज सावन्तसिंह-(परमभक्त नागरीदास-)ने सं० १८०० वि०में रचित अपनी 'पदप्रसङ्गमाला'में प्रस्तुत किया है। यह संग्रह गोस्वामी राधाचरणके संग्रहालयमें उपलब्ध कहा गया है। बादशाह ग्रीष्मकालमें गया, स्वामीजीने मेघमलारमें विष्णुपद गाया। नागरीदासजीका वर्णन है—*'यह सुनि पातैसाह तानसेन कै सङ्ग जलचरी लै श्रीवृन्दावन स्वामीजी पै आयो। पहिलै तानसेन गायो। विनती करी। महाराज कछु अलापचारी करी मलार राग की। चैत-बैसाखको महीनो हुतौ तब वाही बेर घटा घुमड़ि आयी। मोर बोलनि लागे तब नयो बनाइ विष्णु पद गायौ। तब वाही बेर बरषा होन लागी।'*

वह पद यह है—

ऐसी रितु सदा-सर्वदा जो रहै, बोलति मोरनि।
नीके बादर नीको धनुष चहूँ दिसि नीको श्रीवृन्दावन
आछी नीकी मेघनि की घोरनि।
आछी नीकी भूमि हरी हरी, आछी नीकी बूढ़नि की
रेंगनि काम करोरिनि।
'हरिदास' के स्वामी स्यामाके मिलि गावत
जम्यो राग मलार किशोर किशोरनि॥'

अकबरने सेवाकी प्रार्थना की तो यमुनाके एक घाटके जीर्णोद्धारका आदेश दिया। बादशाहने उसे इन्द्रनील-पुखराज आदिसे जटित देखकर सोचा कि सारा मुगल-कोष भी इसके लिये कम है। अन्तमें स्वामीजीने बादशाहको वहाँ फिर कभी न आनेका आदेश दिया।

महाप्रभु चैतन्यदेव १५७१ वि०में वृन्दावनमें स्वामी हरिदाससे मिलने निधुवन आये। परस्पर भगवच्चर्चा चल रही थी कि राधाकुण्डपर निवास करनेवाले रघुनाथदास गोस्वामी निकुञ्जरसमें विभोर मानसिक सेवामें खोयी हुई राधारानीकी पुष्पवेणी खोजते हुए आ पहुँचे! स्वामी हरिदासने अश्वत्थवृक्षके नीचे उस वेणीकी प्राप्तिका संकेत कर उनकी मानसिक सेवा सम्पन्न की।

स्वामी हरिदासजीने श्रीकृष्णकी रसब्रह्मके रूपमें उपासना कर '**रसो वै सः**'की सत्यताको सजीव कर दिखाया। वे निम्बार्क सम्प्रदायके अन्तर्गत रसमार्गके रससिद्ध महात्मा थे। उनके रससिद्धान्तमें भोक्ता केवल भगवान् श्रीकृष्ण हैं, चराचर मात्र उनका भोग्य है। उन्होंने सौन्दर्यसारसर्वस्वके रूपमें श्रीकृष्णका दर्शन किया। उनकी भक्ति दिव्य शृङ्गारजा थी। उनके भागवत शृङ्गारका मूलाधार अन्तर्मुखी महाभावस्वरूपिणी-राधा-महाशक्तिकी लीलापर अवस्थित है। उनकी वाणी है—

आज तृन टूटत है री ललित त्रिभंगी पर।
चरन चरन पर मुरलि अधर पर,
चितवन बंक छबीली भुव पर।
चलहु न बेगि राधिका पिय पै
जो भइ चाहति हो सरबोपरि।
श्रीहरिदास समय जब नीकौ,
हिलि-मिलि केलि अटल रति भ्रू पर।

स्वामी हरिदासने भागवत रसकी उपासनामें सौन्दर्य-माधुर्यका अप्रतिम समन्वय किया। उन्होंने शृङ्गाररस और भक्ति—दोनोंको भगवत्‌रूप माना है। उनकी अथाह, प्रेममयी वाणीका प्राण भागवत केलि है—गुह्यतम निकुञ्जरसमाधुरी है। वे गोपीप्रेमके अक्षर प्रतीक थे। उनका शब्ददर्शन है—

सुनि धुनि मुरली बन बाजं, हरि रास रच्यो।
कुंज-कुंज द्रुमबेलि प्रफुल्लित मण्डल कंचन मनि न खच्यो।
नृत्यत जुगल किसोर जुवती जन मन
मिलि राग केदारी मच्यो।
हरिदासके स्वामी स्यामा कुंजबिहारी
नीकैं री आजु प्यारो लाल नच्यो॥

स्वामी हरिदासके प्रत्येक पदमें राधाकृष्ण-रसकी अमृत-संजीवनी-लीलाका अङ्कन है। वे निरन्तर युगलमन्त्र—

'ॐ नमस्तुभ्यं भगवते कृष्णायाकुण्ठमेधसे।
राधाधरसुधासिन्धौ नमो नित्यविहारिणे॥'

—के अजपा-जपमें तल्लीन रहते थे। उनका कथन है कि—

प्रेम-समुद्र रूपरस गहिरे, कैसे लागै घाट।
बेकार्‌यो दै जानि कहावत, जानि पनों की कहाय री बाट॥
काहू को सर परै न सूधो मारत गाल गली-गली हाट।
कहि हरिदास, बिहारिहिं जानौ, तकौ न औघट घाट॥

स्वामी हरिदासजीका दृढ़ विश्वास था कि भगवान् नन्दनन्दन अपने भक्तोंके दोषोंकी ओर ध्यान नहीं देते। भक्त और भगवान्, दोनों एक-दूसरेके अन्यतम प्रिय हैं। मध्यकालके वृन्दावनरसिक महात्मा व्यासजीका कथन है कि—

अनन्य नृपति स्वामी हरिदास।
श्रीकुंजबिहारी सेये बिनु जिन छिन न करी काहू की आस।

× × ×

ऐसो रसिक भयो न ह्वै है, भुव मंडल आकास।
देह विदेह भये जीवत ही बिसरे बिस्व विलास॥
श्रीवृन्दावन-रज तन-मन भजि, तजि लोक वेद की आस।

× × ×

सुरपति भूपति कंचन कामिनि, जिनके भाये घास।

स्वामी हरिदासजी सं० १६३२ (वि०) तक निधुवनमें विद्यमान थे। उन्हें १६६५ वि० तक जीवित बताया गया है। मान्यता यह है कि संवत् १६३२ वि० में आश्विनकी रासपूर्णिमाके दिन वे निकुञ्जपर वास्तविक-भगवल्लीलामें लीन हो गये। महात्मा सहचरिशरणका कथन इस सम्बन्धमें विशेष प्रमाण है—

श्रीस्वामी आस्विन सुदि पुनो ताको महल पधारे।
सोलह से बत्तीस को संवत् समझ लेहु मन प्यारे॥

स्वामी हरिदासजी त्यागी निःस्पृह और रसिकशिरोमणि महात्मा थे। निम्बार्क सम्प्रदायके 'टट्टीसंस्थान'के आप ही संस्थापक थे। इसमें अनेक उच्चकोटिके त्यागी, अनुरागी और अनुभवी महात्मा हुए हैं। आप संगीतके सम्राट् थे और सम्राट् अकबरके सभा-संगीतज्ञ संगीताचार्य तानसेनके गुरु थे। वे अष्टयाम श्रीराधाकृष्णके लीला-विहारमें मस्त रहनेवाले महात्मा थे, जिन्हें भावावेशमें प्रायः सहजा-समाधि लगी रहती थी। आपने सिद्धान्तके १९ तथा शृङ्गारके ११० पदोंकी रचना की है, जो गेय हैं और राग-रागिनियोंमें उत्तम उतरते हैं। उनमें मनोहरता, मार्मिकता और भक्तिकी उच्चता देखनेको मिलती है। आपकी विहार-विषयक पदावलीको 'केलिमाला' कहते हैं। आपकी समाधि श्रीवृन्दावनके निधुवनमें असंख्य दर्शनार्थियोंकी भक्तिमयी प्रेरणाकी भौम दिव्य प्रतीक है। आपने भगवल्लीलाकी उद्भावनासे वृन्दावनका रसीकरण किया। आपकी कीर्ति अमर है, आप वन्दनीय एवं चिरस्मरणीय हैं।

संतनकी रीति

गहौ मन सब रसको रससार।
लोकबेद कुल करमै तजिये, भजिये नित्य बिहार॥
गृह कामिनि कंचन धन त्यागौ, सुमिरौ स्याम उदार।
कहि हरिदास रीति संतनकी, गादीको अधिकार॥

—स्वामी हरिदासजी

गणेश-चतुर्थी एवं पुण्यकव्रतकी महिमा

(लेखक—डॉ॰ श्रीरामसरूपजी 'रसिकेश', एम्॰ ए॰, पी-एच्॰ डी॰, विद्यावाचस्पति)

ब्रह्मवैवर्तपुराणमें कथा आती है कि पार्वतीजीको शिवजीसे विवाह होनेके बाद बहुत दिनोंतक कोई संतान न हुई ! इसलिये वे अत्यन्त दुःखी रहती थीं। यह देखकर भगवान् शंकरने उनसे कहा—आप 'पुण्यकव्रत' रखें, आपकी कामना पूरी होगी।

पार्वती—पुण्यकव्रत क्या है और कैसे किया जाता है?

शिव—इस व्रतमें वर्षभर पुण्य (भले कार्य) ही किये जाते हैं। पापोंसे सर्वथा दूर रहना पड़ता है। साथ ही हरिका ध्यान भी करना होता है। भगवद्-ध्यान और पुण्यकर्मोंका अनुष्ठान—ये ही इस व्रतके मुख्य अङ्ग हैं। ये दोनों कार्य अत्यन्त उत्तम हैं।

पार्वती—आप कृपा करके मुझे इस व्रतकी महिमा बतायें, जिससे मैं इसे उत्साहपूर्वक कर सकूँ।

शिव—बहुत अच्छा ! ध्यानसे सुनिये। जैसे नदियोंमें गङ्गा, देवोंमें विष्णु और देवियोंमें आप श्रेष्ठ हैं, वैसे ही यह व्रत सर्वश्रेष्ठ है। जैसे वर्णों-(ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों-) में ब्राह्मण, तीर्थोंमें पुष्कर और पत्तोंमें तुलसी पत्र सर्वोत्तम है, वैसे ही व्रतोंमें यह व्रत श्रेष्ठ है। जैसे ऐश्वर्योंमें हरिकी चर्चा, सुखोंमें भगवान्का ध्यान और स्पर्शोंमें पुत्रका स्पर्श सर्वश्रेष्ठ है, वैसा ही यह व्रत है। जैसे पुण्योंमें सत्यभाषण, गौसे प्राप्त पदार्थोंमें घृत, तपस्याओंमें हरिभक्ति और तपस्वियोंमें ब्रह्मा अद्वितीय हैं, वैसे ही यह व्रत अद्वितीय है। जैसे पीनेकी वस्तुओंमें अमृत, अनाजोंमें चावल, पुण्यदायकोंमें जल, शोधकोंमें अग्नि, धातुओंमें सोना और मधुर पदार्थोंमें मधुर भाषण अनुपम हैं, वैसा ही यह व्रत भी अनुपम है। जैसे पक्षियोंमें गरुड़, हाथियोंमें ऐरावत (इन्द्रका हाथी), योगियोंमें सनत्कुमार और दिव्य ऋषियोंमें नारद प्रधान हैं, वैसा ही यह व्रत व्रतोंमें प्रधान है। जैसे गन्धर्वोंमें चित्ररथ, बुद्धिमानोंमें बृहस्पति, कवियोंमें शुक्राचार्य तथा काव्योंमें पुराण सर्वोत्तम हैं, वैसा ही यह व्रत सर्वोत्तम है। जैसे जलाशयोंमें समुद्र, क्षमाशीलोंमें पृथ्वी, लाभोंमें मुक्ति और सम्पत्तियोंमें हरिभक्ति सर्वोत्तम है, वैसा ही यह व्रत उत्तमोत्तम है। जैसे विद्वानोंमें वाणी (सरस्वती), छन्दोंमें गायत्री, यक्षोंमें कुबेर और नागोंमें वासुकि सबसे बड़े हैं, वैसा ही यह व्रत है। जैसे पर्वतोंमें हिमालय, गायोंमें कामधेनु, वेदोंमें सामवेद और घासोंमें कुशा सर्वोत्तम हैं, वैसा ही यह व्रत है। जैसे सुखदायकोंमें लक्ष्मी, तेज चलनेवालोंमें मन, अक्षरोंमें अकार (अ) और हितचिन्तकोंमें पिता सबसे बड़ा है, वैसा ही यह व्रत है। जैसे चौपायोंमें सिंह, प्राणियोंमें मनुष्य, इन्द्रियोंमें मन, स्थूलोंमें ब्रह्माण्ड और सूक्ष्मोंमें परमाणु अनुपम हैं, वैसा ही यह व्रत है। जैसे देवोंमें इन्द्र, दैत्योंमें बलि, सज्जनोंमें प्रह्लाद और दानियोंमें दधीचि सर्वोत्तम हैं, वैसा ही यह व्रत है। जैसे अस्त्रोंमें ब्रह्मास्त्र, चक्रोंमें सुदर्शन, मनुष्योंमें श्रीरामचन्द्र तथा शरणदाताओंमें श्रीकृष्ण सर्वश्रेष्ठ हैं, वैसा ही यह व्रत सर्वोपरि है। इसलिये हे पार्वती ! तुम इस महामङ्गलदायक व्रतका अनुष्ठान करो। वर्ष-पर्यन्त किसी प्रकारका भी प्रमादपूर्ण कार्य न कर, पुण्याचरण ही करती रहो। इससे तुम वैसा ही सर्वोत्तम पुत्र प्राप्त करोगी, जैसा कि यह व्रत है।

यह सुनकर पार्वतीजीने श्रद्धापूर्वक इस पुण्यक-व्रतको धारण किया। भगवान्की भक्ति करते हुए पापोंसे दूर रहकर वे सदा पुण्योंमें लगी रहीं। परिणाम-स्वरूप उन्हें गणेशजी-जैसा विघ्न-विनाशक, मङ्गलकारक और सर्वपूज्य पुत्र प्राप्त हुआ। तात्पर्य यह कि

भगवत्स्मरण और शुभ कर्माचरणसे मङ्गल-विधायक पुत्रकी प्राप्ति होती है। अतः पुत्रेच्छुओंको चाहिये वे श्रद्धा-प्रेम—भक्तिसे भगवत्स्मरण और शुभ कर्मों—भले कामोंका अनुष्ठान करते रहें। भले कार्यसे भलाई होती ही है—'ठीक प्रतीति कहे तुलसी, जग होत भले की भलाई भलाई।'

परिवार सुखी कैसे हो ?

(लेखक—श्रीनरेन्द्रजी वार्ष्णेय)

यह आवश्यक नहीं कि सभी प्रकारसे ऐश्वर्य-सम्पन्न परिवार सुखी ही हो; क्योंकि धनिक परिवार तो बहुतेरे हैं, पर सुखी सब कहाँ हैं ? कारण यह है कि ऐश्वर्य तथा सुखका कार्य-कारणका सम्बन्ध नहीं है। भौतिकताका महत्त्व स्वयं शरीरके भौतिक होनेके कारण ही है। शरीरको बनाये रखनेके लिये भौतिक नियमोंको मानना ही होगा, जिससे शरीरसे धर्म-साधना की जा सके और परिवार वास्तविक अर्थमें सुखी बन सके। किंतु केवल शरीरको बनाये रखनेमात्रके लिये ही भौतिकतामें लिप्त रहना युक्तियुक्त नहीं। बिना धर्म-साधनाके शरीरको धारण करना तो एक प्रकारसे जन्मको निरर्थक करना होगा।

देखनेके लिये आँखका होना आवश्यक है। भौतिक वस्तुओंके दर्शनके लिये आँखोंका निर्विवाद महत्त्व है, पर क्या यह भी जरूरी है कि प्रत्येक आँखवाला अच्छा देखे और क्या आज सभी आँखवाले अच्छा ही देख रहे हैं। वस्तुतः अच्छा देखनेके लिये सुसंस्कार, सद्बुद्धि एवं सद्वातावरणको प्राप्त करना होगा। कर्म करनेके लिये भौतिकता आवश्यक है, पर सत्कर्म करनेके लिये अध्यात्मकी ओर जाना होगा; क्योंकि यही सत्-चित् और आनन्दका मार्ग है।

आज परिवारको सीमित रखनेकी जो बात कही जाती है, वह परिवारके भौतिक आकारको परिवार तथा समाज दोनोंकी सामर्थ्यके अनुरूप ढालनेके लिये कही जाती है। कहीं ऐसा न हो जाय कि परिवारका असीमित आकार पारिवारिक तथा सामाजिक सामर्थ्यको पङ्गु बनाकर उसको सुखके मार्गपर चलनेसे अवरुद्ध कर दे। एक समर्थ परिवारको भी अपने आकारको सीमित रखना है; क्योंकि वह बृहत् समाजकी एक महत्त्वपूर्ण ईकाई है तथा उसे अपनी अतिरिक्त सामर्थ्यसे समाजके समर्थहीन परिवारोंको उठाकर स्वयं समाजको प्रगतिपर आरूढ़ करना है।

सत्कार्यमें लगा सीमित परिवार आवश्यक नहीं कि सुखी हो; क्योंकि सुखका महत्त्वपूर्ण कारण कर्तव्यहीन रहना है। सत्कार्य तथा कर्तव्यमें अन्तर है। स्वजनोंको मारना अर्जुनके लिये सत्कार्य नहीं था, पर कर्तव्य-अवश्य था जिसे कृष्णने बताया और जो गीताका रहस्य है। पूजा करना सत्कार्य है, पर पूजाके लिये अन्य गृहस्थ कार्योंको त्यागना कर्तव्य नहीं। सुख कर्तव्य पालनमें है। पूजामें सुख उतना ही है, जितना पूजा कर्तव्य है। यदि पूजा कर्तव्य नहीं तो पूजा सुखका कारण नहीं हो सकती। परिवारके प्रत्येक सदस्य जहाँ भी हों, अपने-अपने स्थानपर कर्तव्य करते हुए ही परिवारको सुख-संतोष दे सकते हैं। अंग्रेजीमें कहावत है—'कर्तव्य ही ईश्वरीय पूजा है (Work is worship)।

कर्तव्य क्या है ? यह जानना सामान्यतया कठिन है; क्योंकि वह समय और स्थानके साथ बदलता रहता है। जो आज कर्तव्य है, वह कल नहीं रहेगा। इसी तरह जो काम एक व्यक्तिके लिये कर्तव्य है, वही दूसरेके लिये भी हो, यह आवश्यक नहीं। कर्तव्य करनेसे ज्यादा कर्तव्य-बोध दुष्कर है। अर्जुनको जब कर्तव्य-बोध हो गया तो कर्तव्य करना उसके लिये उतना कठिन नहीं रहा।

चूँकि कर्तव्य बदलते हैं, अतः कर्तव्य-बोध एक प्रक्रिया है। बोध होता रहना चाहिये, ज्ञान होता रहना चाहिये। यदि कोई कहता है कि मुझे ज्ञान हो गया और मैं पण्डित हो गया तो समझिये कि उसे एक प्रकारसे अज्ञान ही हो गया; क्योंकि ज्ञानका होना एक प्रक्रिया है, एक अकेला कर्म नहीं। पण्डित वही है, जो आजन्म विद्यार्थी बना रहता है। विद्यार्थी बने रहनेमें ही पाण्डित्यका अस्तित्व है। परिवारका प्रत्येक सदस्य समय और स्थानानुसार कर्तव्य-बोध करते हुए कर्मलीन रहकर अपने परिवारको सुखी रख सकता है।

सुखी परिवारका एक और महत्त्वपूर्ण गुण है, उसका भविष्यद्रष्टा होना। पीढ़ी-दर-पीढ़ी वही परिवार टिक पाते हैं, जो उत्तरोत्तर प्रगतिके लिये यथेष्ट धन, स्वास्थ्य एवं विद्या-संचयन करते हैं। आलसी, अहंकारी तथा मूर्खजनोंसे युक्त परिवार दीमक लगे पेड़के समान है; अतः ऐसे परिवार समयके गर्तमें गिर जायँगे। जो परिवार मिट गये, वे भविष्य-द्रष्टा नहीं थे, पुरुषार्थी नहीं थे। और, जो परिवार बन गये, उन्होंने भविष्यके लिये धन, स्वास्थ्य तथा विद्याका संचयन किया था, ताकि समस्याओंका समाधान हो और वे प्रगत्युन्मुख हो सकें।

सूफी एवं संत कवियोंने—जायसी, मंझन और कबीरदास, रैदास, मीरा आदिने—प्रेमकी महिमाका बखान किया। कबीरने तो यहाँतक कह दिया कि **'ढाई आखर प्रेमका पढ़े सो पंडित होय'**; क्योंकि केवल ज्ञान अहंकार लाता है। ज्ञानके साथ नम्रता आवश्यक है—नम्रता यानी प्रेम। पेड़ फलसे सदा झुक जाते हैं, अतः ज्ञानवान्‌को भी झुकना चाहिये; इतना झुक जाय कि अज्ञानी बौने उसके ज्ञानरूपी फलोंका रसास्वादन कर सकें। ज्ञान कर्तव्य-बोध कराता है तो प्रेम कर्तव्य करनेकी भावनाको बल देता है। हम सभी जानते हैं कि अमुक व्यक्ति कोढ़ी है, पर कोढ़ीके घावोंको जो भरे, वह प्रेमी है। महाप्रभु चैतन्य, रामकृष्ण परमहंस, स्वामी रामतीर्थ प्रभृति महात्मा प्रेम और ज्ञानके प्रतीक थे।

परिवारके सभी सदस्योंको प्रेमकी डोरमें बँधा होना चाहिये। प्रेमसे एकता आती है, प्रगाढ़ता आती है। प्रेमका अभाव संदेह तथा विभाजनका कारण बनता है। हमारे देशपर जो वर्षोंतक विदेशियोंने शासन किया, वह हमारी फूटके कारण सम्भव हो सका। वे परिवार बिखर गये, जहाँसे प्रेम चला गया। एकदलीय भावनाके न रहनेके कारण अच्छे-से-अच्छे दल खेलके मैदानमें हार गये हैं। एकदलीय भावनाके लिये परिवार-का प्रेम-सूत्रमें पिरोया जाना आवश्यक है। यह होता है—सद्भाव और सद्व्यवहारसे।

सारांशमें—सुसंस्कारित, सीमित, कर्तव्यपरायण, भविष्यद्रष्टा तथा प्रेमी परिवार सुखी रहेंगे तथा प्रगति भी कर सकेंगे। इन गुणोंसे वञ्चित यदि कोई परिवार प्रगति कर रहा है तो उसकी प्रगति अवश्यमेव अपरिपक्व और अस्थायी होगी। सुख-शान्ति तो वहाँ स्थायी रह ही नहीं सकती। स्थायी सुख-शान्तिके लिये सुसंस्कारिता, कर्तव्यपरायणता, त्याग-भावना, कर्मठता, विवेकपूर्ण विचारशीलता और समर्पणभाव होना आवश्यक है। किन्तु ये गुण मनुष्यमें तभी विकसित होते हैं, जब मनुष्य यह समझ लेता है कि सभी प्रभुके पुत्र हैं और सबके पिता परमेश्वर हैं। हम सभी एक हैं, केवल बाहरी भेदके कारण ही अनेकता दीखती है। अतएव परिवारमें भी औदार्यभाव रखना अनिवार्य है। तभी कोई परिवार सुखी रह सकता है। इसे ही व्यापक रूप देते हुए राष्ट्रकवि मैथिलीशरण गुप्तने क्या ही सुन्दर कहा है कि—

उसी उदारकी कथा सरस्वती बखानती।
उसी उदार से धरा कृतार्थ भाव मानती॥
उसी उदार की सदा सजीव कीर्ति कूजती।
तथा उसी उदार को समस्त सृष्टि पूजती॥
अखण्ड आत्मभाव जो असीम विश्वमें भरे।
वही मनुष्य है कि जो मनुष्यके लिये मरे॥

मानव-जन्मकी सफलता भगवत्प्राप्तिमें है

(लेखक—श्रीपृथ्वीराजजी सीराठिया)

मानव-शरीर ईश्वरकी प्राप्तिका प्रधान साधन है। जिस मनुष्यने पुण्यकर्म किये हैं, उसीको यह शरीर सुगमतासे मिलता है; और, जिसने पुण्य नहीं किये और जिसके प्रतिबन्धकरूप पापोंका नाश नहीं हुआ है, उसे यह शरीर नहीं मिलता। श्रीमद्भागवतमें भगवान्‌के वचन हैं कि 'मृत्युरूपी संसार-सागरसे तरनेके लिये यह (शरीर) एक अद्भुत नौका है। सद्गुरुके शरण होनेपर सद्गुरु स्वयं ही नौकाका केवट बन जाता है और मैं (भगवान्) स्वयं अनुकूल पवन बनकर उस नौकाको शीघ्र ही पार पहुँचा देता हूँ।' भगवान्‌के कथनका भाव है कि ('जब मैं इतनी सब सुविधाएँ कर देता हूँ,) इसपर भी जो मूर्ख मनुष्य विषयभोगोंमें ही रमता है और मेरी प्राप्ति नहीं कर लेता, वह अपने ही हाथों अपना अनिष्ट करता है, वह आत्महत्यारा है'—

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥
(११। २०। १७)

इससे उसको अन्धतामिस्र लोककी ही प्राप्ति होती है। वेद भगवान्‌के वचन हैं—

असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः।
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो जनाः॥
(ईशोपनिषद् ३)

ऐसे देवदुर्लभ मानव-शरीरको प्राप्त करके भी जो काम-भोग परायण लोग विषयोंका ही सेवन करते हैं और परमात्माकी प्राप्तिका यत्न नहीं करते, वे एक प्रकारसे आत्माकी हत्या ही करते हैं। फलतः मृत्युके अनन्तर उनको कूकर-शूकर, कीट-पतंग या वृक्ष-पाषाण आदि शोक-संतापपूर्ण आसुरी योनियों और भयानक नरकोंमें भटकना पड़ता है। इससे स्पष्ट है कि मानवशरीरकी सार्थकता उसके द्वारा भगवान्‌की प्राप्तिमें ही है। भगवान्‌ने यदि मनुष्य-शरीरको भोगार्थ ही बनाया होता तो वे उसे देव-गंधर्वादि योनियाँ देते, जहाँ मोक्ष सुलभ नहीं है।

ईश्वरने मनुष्यको भारतकी कर्मभूमिमें जन्म देकर सत्-असत्, आत्मा-अनात्मा और नित्य-अनित्यका विवेचन करके असत्, अनात्म और अनित्यका त्यागकर नित्य और सत् आत्म-स्वरूपको प्राप्त करनेकी क्षमता दी है। इस प्रकार विवेकका सदुपयोग कर देवादियोनियोंको अतिक्रमणकर मनुष्य नरसे नारायण हो सकता है। वही मनुष्य-जीवनके समयका दुरुपयोग कर दानव, पिशाच या राक्षस भी हो सकता है। इसीलिये भगवान्‌ने गीतामें कहा है कि 'बुद्धियोग' या विवेकके आश्रयसे मेरी प्राप्ति होती है।

विषय-पदार्थोंकी प्राप्ति तो चौरासी लाख योनियोंमें बिना परिश्रम ही होती है और शरीरका निर्माण होनेसे पहले ही उनका निर्माण हो चुका रहता है। ऐसी स्थितिमें इस शरीरका उपयोग विषयके संयोजनमें क्यों किया जाय ?

मनुष्य-शरीरको पुरुष कहा जाता है और उसकी सार्थकता धर्मादि चारों पुरुषार्थोंको साध लेनेमें ही है। धर्मादि चार पुरुषार्थ हैं—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष। इसमें बीचके दो—अर्थ और काम तो जन्मके साथ ही प्रारब्धके अनुसार निश्चित हो जाते हैं। इनके लिये किसी प्रबल पुरुष-प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं होती है।

सुखमैन्द्रियकं राजन् स्वर्गे नरक एव च ।
देहिनां यद् यथा दुःखं तस्मान्नेच्छेत तद् बुधः ॥
(श्रीमद्भा० ११।८।१)

अवधूत दत्तात्रेय राजा यदुसे कहते हैं—'राजन्! स्वर्ग और नरकमें विषयसुख समान हैं। उसी प्रकार मनुष्य-योनि और इतर योनियोंमें भी समान हैं। इन्द्रको इन्द्राणीका सुख और शूकरको शूकरीका सुख, दोनों समान हैं। यह समझकर चतुर मनुष्य विषयभोग नहीं करता। किसी भी देहधारीको दुःखकी इच्छा नहीं होती तो भी प्रारब्धानुसार सुख-दुःख दोनों प्राप्त होते हैं। अतः सुखके लिये उद्यम करना व्यर्थ है। इसलिये विषय-लालसा छोड़कर परमार्थकी प्राप्ति कर लेनी चाहिये।' श्रीभगवान् अर्जुनसे कहते हैं—

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना ।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम् ॥
(गीता २।६६)

'साधन रहित (भगवान्‌की उपासनासे रहित) पुरुषके अन्तःकरणमें श्रेष्ठ बुद्धि नहीं होती है और आस्तिक भाव भी नहीं होता एवं बिना आस्तिक भाववाले पुरुषको शान्ति भी नहीं होती, फिर शान्तिरहित पुरुषको सुख कैसे हो सकता है ?'

विषयोंका प्रलोभन छोड़कर धर्मके आचरणद्वारा चरम पुरुषार्थ मोक्षको प्राप्त करनेके लिये पुरुषार्थ करना है, परंतु मनुष्य मोहवश गलत रास्तेपर चलता है। जिनके लिये श्रमकी आवश्यकता नहीं है, उन विषयोंके भोगके लिये जीवनभर श्रम करता रहता है और वह भोग उतना ही मिलता है, जितना प्रारब्धमें होता है। फिर श्रमका क्या उपयोग हुआ ? वस्तुतः ईश्वरका भजन करके ईश्वरकी प्राप्ति कर लेनेके लिये ही मनुष्य-शरीर मिलता है; परंतु उसकी ओर मनुष्यका लक्ष्य नहीं है। यह मनुष्यका घोर अज्ञान नहीं तो और क्या है ?

मानव-शिशु जब माताके उदरमें रहता है, तब उसे अपने स्वरूपका ज्ञान रहता है। इससे वह निश्चय करता है कि इस बंदिगृहसे छूटकर मैं जीवनभर भगवान्‌के भजनके सिवाय और कुछ भी न करूँगा। पर बाहर आते ही स्वरूपकी विस्मृति हो जाती है। वह ईश्वरकी मायामें मोहित हो जाता है। त्रिगुणात्मक जगत्‌के इन भोगोंको देखकर जीव उनमें ललचा जाता है और अनेक जन्म-जन्मान्तरोंकी वासनाके कारण विषय-भोगमें रमा रहता है।

मानव-जीवन बड़ा दुर्लभ है, अतएव कहा है—**'मानुष्यं दुर्लभं लोके।'** इस ऐसे जीवनके लिये अनुभवी आप्त पुरुषोंकी हितोक्तियाँ मार्गदर्शक बन सकती हैं। आचार्य शंकर कहते हैं—

बालस्तावत् क्रीडासक्तस्तरुणस्तावत् तरुणीसक्तः।
वृद्धस्तावच्चिन्तामग्नः परे ब्रह्मणि कोऽपि न लग्नः॥
(मोहमुद्गर)

बालक खेल-कूदमें मस्त रहते हैं, युवावस्थामें मनुष्य प्रायः रागमें अंधा बना रहता है और बुढ़ापेमें वह चिन्तामें डूबा रहता है। भगवान्‌के मार्गमें वह कभी नहीं लगता।' अपने पुत्र पुरुसे यौवन पाकर हजारों वर्षतक वैषयिक सुखभोग करनेवाले ययाति राजाको भी कहना पड़ा था—

न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥
(श्रीमद्भा० ९।१९।१४)

उपभोगोंसे कभी कामनाका नाश नहीं होता। इससे तो वह उसी प्रकार बढ़ती है, जैसे घीकी आहुति डालनेसे अग्नि बढ़ती है। हम पहले शरीरपर जैसे संस्कारोंका अभ्यास डालेंगे, वे ही अन्ततक दृढ़ रहेंगे। भोग-साधनमें लगाये हुए शरीरसे धर्म-साधनाकी आशा रखना बुद्धिमानी नहीं है। बाल्यकाल, किशोरावस्था एवं कौमारवयमें सुधारा गया निष्कल्मष, मृदु शरीर ही धर्मसाधनके लिये साधन बन सकता है; क्योंकि डाले हुए धार्मिक संस्कारसे ही मनुष्य जीवनभर धार्मिक कार्य और अनुष्ठान कर सकता है और उससे अपना

*

श्रेय प्राप्त कर सकता है। इसीलिये भागवतशिरोमणि प्रह्लादने असुरोंसे कहा था कि—

कौमार आचरेत् प्राज्ञो धर्मान् भागवतानिह।
दुर्लभं मानुषं जन्म तदप्यध्रुवमर्थदम्॥
(श्रीमद्भा० ७।६।१)

उनका उपदेश है कि इन्द्रिय-सुखके लिये प्रयत्न नहीं करना चाहिये, वे तो प्रारब्धानुसार दुःखकी भाँति सभी योनियोंमें अनायास ही प्राप्त हो जाते हैं—

सुखमैन्द्रियकं दैत्या देहयोगेन देहिनाम्।
सर्वत्र लभ्यते दैवाद् यथा दुःखमयत्नतः॥
तत्प्रयासो न कर्तव्यो यत आयुर्व्ययः परम्।
(श्रीमद्भा० ७।६।३-४)

'इसलिये बुद्धिमान् मनुष्यको चाहिये कि जबतक शरीर-शक्ति क्षीण न हो, तभीतक मृत्युसे डरता हुआ वह आत्मकल्याणके लिये यत्न कर ले'—

ततो यतेत कुशलः क्षेमाय भयमाश्रितः।
शरीरं पौरुषं यावन्न विपद्येत पुष्कलम्॥
(श्रीमद्भा० ७।६।५)

शास्त्रीय दिनचर्या—

प्रातःकालका जगना

(लेखक—स्वामी श्रीशंकरानन्दजी सरस्वती)

(१)

['ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत']

भौतिक लाभ—कोई भी व्यक्ति प्रातः ब्राह्ममुहूर्त्त (सूर्योदयसे ढाई घंटे पूर्व) में उठकर इस अकाट्य सत्यका अनुभव कर सकता है कि प्रातःकालका वायु-मण्डल शरीर, इन्द्रिय और मनको प्रिय लगनेवाला तथा स्वस्थताप्रद होता है। इसका कारण यह है कि रात्रिमें तारागणों तथा चन्द्रमाके शीतल प्रकाशके संयोगसे वातावरण शीतल तथा वायुमें प्राणप्रद वायु- (आक्सीजन-) की मात्रा अन्य समयकी अपेक्षा अधिक होती है। इसी लिये शास्त्रोंमें उस कालकी वायुका स्मरण 'वीरवायु' नामसे किया गया है। प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेसे होनेवाले लाभोंका वर्णन आयुर्वेदमें इस प्रकार किया गया है—

वर्णं कीर्तिं मतिं लक्ष्मीं स्वास्थ्यमायुश्च विन्दति।
ब्राह्मे मुहूर्त्ते सञ्जाग्रच्छ्रियं वा पङ्कजं यथा॥
(भैषज्यसार० ९३)

अर्थात्—'ब्राह्ममुहूर्तमें उठनेसे पुरुषको वर्ण, कीर्ति, बुद्धि, लक्ष्मी, स्वास्थ्य तथा आयुकी प्राप्ति होती है। उसका शरीर कमलकी तरह प्रफुल्लित हो जाता है।' इसीलिये धर्मशास्त्रोंमें भी कहा है कि 'ब्राह्मे मुहूर्त्ते बुध्येत' (मनुस्मृ० ४।९२) अर्थात् प्रातः ब्राह्ममुहूर्तमें (प्रायः चार बजे) उठ जाना चाहिये।

आध्यात्मिक लाभ—ब्राह्ममुहूर्त्तमें उठकर लघुशङ्का (पेशाब) करके हाथ-पैर धोकर कुछ काल परमेश्वरका ध्यान करना चाहिये। उनके ध्यानके लिये इससे अधिक उपयुक्त और कोई समय नहीं हो सकता; क्योंकि रात्रिभर विश्राम कर लेनेके कारण व्यष्टि-मानवपिण्डकी मन-इन्द्रियाँ शान्त होती हैं तथा समष्टि ब्रह्माण्डका वातावरण भी शान्त होता है। इसी समय बड़े-बड़े ऋषि-मुनि भी ब्रह्मध्यान करते हैं; उनके सम्यक् ध्यानकी तरङ्गोंसे हमलोगोंके ध्यानमें अदृश्यरूपसे विशेष सहायता प्राप्त हो जाती है। अतः यह समय ब्रह्मध्यानके लिये बहुत अच्छा है, इसीलिये इसे ब्राह्ममुहूर्त्त कहते हैं। ध्यानद्वारा समष्टि आत्मारूप ब्रह्मसे व्यष्टि आत्माका सम्बन्ध होनेसे हमारी सुप्त हुई आध्यात्मिक शक्तियोंको बहुत लाभ होता है।

ब्रह्मध्यानकी आवश्यकता—हमारे लौकिक तथा अलौकिक सभी कार्य क्रियाशक्ति, ज्ञानशक्ति तथा भाव- (संकल्प-) शक्तिसे ही सम्पूर्ण होते हैं। इन्हीं तीनों व्यष्टि-शक्तियोंके द्वारा जैसे यह व्यष्टि-पिण्ड मानवशरीर संचालित होता है वैसे ही उन्हीं तीनों समष्टि-शक्तियोंके द्वारा यह समष्टि ब्रह्माण्ड संचालित होता है। व्यष्टि-

शक्तियोंके आश्रयको जीवात्मा कहते हैं और समष्टि-शक्तियोंके आश्रयको परमात्मा (ब्रह्म) कहते हैं। जीवात्मा शरीरद्वारा तभी अपने कार्य सम्यक् सम्पन्न कर सकता है, जब उसकी उक्त तीनों शक्तियाँ सबल बनी रहें। यह तभी सम्भव है जब उसको व्यष्टि-शक्तियोंका समष्टि-शक्तियोंके साथ सम्बन्ध बना रहे, अतः इसके लिये यह आवश्यक है कि आत्मा प्रतिदिन परमात्मा-(ब्रह्म-)का ध्यान करे। आत्मदर्शनका यह सुगम तरीका है।

गृहके अनेक कार्योंकी सम्पादक विद्युत्-शक्तिका शक्तिगृह-(पावरहाउस-) से सम्बन्ध बनाये रखनेके लिये 'प्लग'की आकृतिविशेषका आग्रह नहीं होता, वैसे ही मानवपिण्डकी संचालक व्यष्टि-शक्तियोंका ब्रह्माण्डसंचालक समष्टि-शक्तियोंसे सम्बन्ध बनाये रखनेके लिये भी ब्रह्मके राम, कृष्ण, विष्णु आदि आकृतिविशेषका आग्रह शास्त्रकारोंको नहीं है, अतः 'यथाभिमतध्यानाद्वा' कहा गया है एवं नामोंके उच्चारणमें भी कोई विशेष आग्रह नहीं किया गया है। तो भी अपनी श्रद्धा और रुचिकी रक्षा करते हुए यदि ऋषि-मुनिसेवित भगवान्‌के नाम और रूपको माध्यम बनाया जाय तो विशेष लाभ होता है; क्योंकि उन ऋषि-मुनियोंकी उत्कृष्ट भावनाओंसे दीर्घकालसे भावित भगवान्‌के नाम और रूपोंमें विशेषता आ जाती है। रामका नाम इस दृष्टिसे उत्तम है; क्योंकि उसमें अर्थव्यापकता देखनेको मिलती है[1]।

महापुरुष-स्मरण—ब्रह्मध्यानके अनन्तर विशिष्ट महापुरुषोंके स्मरणका विधान शास्त्रोंमें किया गया है। महापुरुषोंके स्मरणसे उनके गुणोंको जीवनमें धारण करनेकी प्रेरणा मिलती है, इस मनोविज्ञानके आधारपर उनके स्मरणका विधान है। निम्नलिखित श्लोकद्वारा महापुरुषोंका स्मरण कर नमस्कार करना चाहिये—

प्रह्लादनारदपराशरपुण्डरीक
व्यासाम्बरीषशुकशौनकभीष्मदाल्भ्यान्।
रुक्माङ्गदार्जुनवसिष्ठविभीषणादीन्
पुण्यानिमान् परमभागवतान् स्मरामि॥
(प्रपन्नगी० १)

करदर्शन—महापुरुषोंका स्मरण करनेके अनन्तर निम्नश्लोक बोलकर हाथका दर्शन करना चाहिये—

कराग्रे वसते लक्ष्मीः करमध्ये सरस्वती।
करमूले स्थितो ब्रह्मा प्रभाते करदर्शनम्॥

अर्थात्—'हाथके अग्रभागमें लक्ष्मीका निवास है। हाथके मध्यभागमें विद्यादात्री सरस्वतीका निवास है। हाथके मूलभागमें बुद्धिदाता ब्रह्माका निवास है। इसीलिये प्रभातमें कर-दर्शन करना चाहिये।' तात्पर्य यह है कि मानव-जीवनकी सफलताके लिये धन, विद्या, बुद्धि—इन तीनोंकी परम आवश्यकता है। इन तीनोंको कर—पुरुषार्थके प्रतीक कर—(हाथ-)में स्थित बतानेका तात्पर्य यह है कि इनका पुरुषार्थके द्वारा सम्पादन करना चाहिये।

भूमि-वन्दना—कर-दर्शनके अनन्तर निम्नश्लोक बोलते हुए भूमि-वन्दना करनी चाहिये; क्योंकि जननी तथा जन्मभूमिको स्वर्गसे भी श्रेष्ठ कहा गया है।

समुद्रवसने देवि पर्वतस्तनमण्डले।
विष्णुपत्नि नमस्तुभ्यं पादस्पर्शं क्षमस्व मे॥

अर्थात्—'हे समुद्ररूपी वस्त्रोंवाली, पर्वतरूपस्तनोंसे मण्डित विष्णुपत्नि! मैं आपको प्रणाम करता हूँ, मेरे चरण-स्पर्शको क्षमा करना।' मनोविज्ञानके आधारपर स्वदेशभक्तिकी भावनासे मानवको भावित करनेके लिये भूमिवन्दनाका विधान किया गया है। इसी आधारपर आज भी 'वन्दे मातरम्' आदि गीतोंके गानका विधान किया जाता है। 'वन्दे मातरम्' कहनेसे केवल हम माँसे परिचित होते हैं, किंतु विष्णुपत्नी कहनेसे हम अपने वास्तविक पितासे भी परिचित हो जाते हैं और

१-'रमन्ते योगिनो यस्मिन् स रामः।' रम् धातुसे ज्वलादिगण (३।८३८-)में होनेसे 'णः' प्रत्यय करनेपर राम शब्द बनता है।

दोनोंके प्रति भक्ति-भावनासे भावित होते हैं; इसलिये अपेक्षाकृत प्राचीन शास्त्रीय भूमिवन्दना श्रेष्ठ है। धारण-शक्तिरूपा तथा पालनशक्तिरूपा भूमिको सर्वशक्तियोंके आश्रय भगवान्‌की पत्नी कहना भी बिल्कुल ठीक है। आधिदैविक दृष्टिसे तो लक्ष्मीदेवीकी तरह भू-देवीका भी विष्णुभगवान्‌की पत्नीके रूपमें वर्णन पुराणोंमें स्पष्ट पाया जाता है।

पिण्डब्रह्माण्ड-विज्ञानके अनुसार प्रातःकाल की गयी भावनाओंका आदान-प्रदान व्यवधानरहित होनेके कारण सुगमतासे होता है और उनका गहरा प्रभाव पड़ता है; इसी दृष्टिसे भावप्रधान कार्योंका विधान शास्त्रकारोंने प्रातःकालमें किया है। उस समय शान्त मनमें 'गहरा प्रभाव पड़ता है।' इसे ध्यानमें रखकर ही श्रोत्रिय ब्राह्मण, गाय, अग्नि आदि पवित्र पदार्थोंके दर्शनका विधान किया गया है और दुष्ट पुरुष, मद्य (शराब), नग्न स्त्री, विष्ठा आदि अपवित्र पदार्थोंके दर्शनका निषेध किया गया है। प्रातःकालमें गौ, वेदपाठी ब्राह्मण, दर्पण, शङ्ख, देवताओंके चित्र और पुष्पादिसे लदे वृक्ष, मन्दिर एवं अन्य शुभ-शोभन पदार्थोंका दर्शन करना उत्तम होता है।

भगवन्नाम-संकीर्तनकी महिमा

(लेखक—डॉ० श्रीवासुदेवकृष्णजी चतुर्वेदी, एम्० ए०, पी-एच्० डी०, डी० लिट्)

महाराज परीक्षित्‌की आयुके मात्र सात दिन शेष थे। उन्होंने गङ्गातटपर श्रीशुकदेवजीसे पूछा 'जिसकी मृत्यु निकट हो, उसे क्या करना चाहिये ?' परमहंसशिरोमणि शुकदेवजीने उत्तर दिया—

'श्रोतव्यः कीर्तितव्यश्च स्मर्तव्यश्चेच्छताभयम्।'

'राजन् ! भगवान्‌का ही श्रवण, कीर्तन और स्मरण करना चाहिये।' स्पष्ट है कि भगवान्‌के नामका उच्चारण परम मङ्गलदायक है। यह उच्चारण समझकर किया जाय तब तो सर्वोत्तम है ही, यदि अनजाने भी मुखसे निकल जाय तब भी पापनाशक है।

इस सम्बन्धमें अजामिलकी कथा अत्यन्त प्रसिद्ध है। उसका जन्म कान्यकुब्ज देशमें एक ब्राह्मणके घर हुआ था। एक बार एक वेश्याके रमणको देखकर इसने अपने धर्म-कर्म, सब त्याग दिये और कुसङ्गमें फँसकर बुरे आचरण करने लगा। चौर-कर्म, हिंसा, बालधन, स्त्री-धनका अपहरण तथा सभी अन्याय-वृत्तियाँ इसने अपना लीं। वेश्याके साथ घरमें रमण करते समय धनाभावके कारण पशुओंका आखेट करने लगा। मुर्दोंके वस्त्र उठा लाता, चिताका ईंधन रसोईके उपयोगमें लाता था। मृत्युकालके पूर्व एक जमातमें महात्मा लोग इसके द्वारपर आये और एक बालकका नाम नारायण रखनेको कह गये। इसने अपने सबसे छोटे पुत्रका नाम 'नारायण' रखा। अब तो उठते-बैठते उसके मुखसे नारायण नाम निकलने लगा। मरते समय जोरसे 'नारायण' शब्दका उच्चारण किया, बस फिर क्या था, काले-काले—यमदूतोंके आते ही नारायणके दूत भी आ गये और उसे उनसे छुड़ाकर भगवान्‌के धाम ले जानेका आग्रह किया! इसपर यमदूत विवाद करने लगे। अन्तमें परास्त होकर वे यमराजके पास लौट गये और वहाँ जब उनसे उन्हें नारायण नाम उच्चारणका माहात्म्य सुननेको मिला तो दंग रह गये। अजामिल-जैसा पापी नामोच्चारणके प्रतापसे समस्त पापोंको त्यागकर भगवान्‌के धाम चला गया। वस्तुतः भगवान्‌के नामकी ऐसी ही महिमा है। परिहासमें, दूसरेके अभिप्रायसे तान अलापनेमें, किसीकी अवहेलना करनेमें भी प्रभुके नाम-उच्चारणसे पाप नष्ट हो जाते हैं।

श्रीकृष्ण कहते हैं—जब कृष्णा (द्रौपदी)ने कुरुसभामें पाण्डवोंके समीप स्थित होनेपर भी मेरा नाम लिया, वह ऋण मेरे ऊपर बढ़ गया; वह अब भी दूर नहीं होता—

ऋणं चैतत्प्रवृद्धं मे हृदयान्नापसर्पति।
यद् गोविन्देति चुक्रोश कृष्णा मां दूरवासिनम्॥

अपूर्णपद भी बोलना चाहिये—भगवान्‌के नामके साथ क्रिया पद न भी बोला जाय तो कोई हानि नहीं है—'राम-राम', 'कृष्ण-कृष्ण', 'हरि-हरि' नाम भी पाप निवृत्त करते हैं। सूर भी कहते हैं—

हरि हरि हरि हरि सुमिरन करौ। हरि चरणारविन्द उर धरौ॥

'हरि' पदका उच्चारण करते ही गजेन्द्रका उद्धार हो गया था। रामका 'रा' अक्षर भी उच्चारण करते समय पाप नाश करनेवाला है। जान या अनजानमें ईंधनसे अग्निका स्पर्श हो जाय तो वह भस्म हो ही जाता है, वैसे ही भगवान्‌के नामका संकीर्तन समस्त पापोंको भस्म कर डालता है। कहा भी है—

हरिर्हरति पापानि दुष्टचित्तैरपि स्मृतः।
अनिच्छयापि संस्पृष्टो दहत्येव हि पावकः॥
(नारदीयमहापुराण १। ११। १००)

जिसने 'हरि' इन दो अक्षरोंका उच्चारण कर लिया, निश्चय ही उसने मोक्षप्राप्तिकी तैयारी कर ली—

सकृदुच्चरितं येन हरिरित्यक्षरद्वयम्।
बद्धः परिकरस्तेन मोक्षाय गमनं प्रति॥
(गरुडपुराण १। २२२)

जो हरिका नाम लेता है, उसके समस्त दुःख भी दूर हो जाते हैं—गङ्गा-गया-रामेश्वर-काशी-पुष्कर-यात्राका पुण्य हरिके उच्चारणसे मिल जाता है—

न गङ्गा न गया सेतुर्न काशी न च पुष्करम्।
जिह्वाग्रे वर्तते यस्य हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
प्राणप्रयाणपाथेयं संसारव्याधिभेषजम्।
दुःखक्लेशपरित्राणं हरिरित्यक्षरद्वयम्॥
(विष्णुसहस्रनाम शांकरभाष्य)

भगवान्‌के नामके लिये ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र, स्त्री-वृद्ध-बालक—सभी अधिकारी हैं। इस नामको लेनेके लिये न देशका नियम है, न कालका, शौच-अशौचका, चलने-फिरनेका कोई भी नियम इसमें बाधक नहीं है—

न देशनियमो राजन्नकालनियमस्तथा।
परं संकीर्तनादेव राम रामेति मुच्यते॥

आश्चर्यमें, भयमें, शोकमें, चोट लग जानेपर या किसी बहाने भी नाम निकले तो भी पातकोंका नाश करता है।

आश्चर्ये वा भये शोके क्षते वा मम नाम यः।
व्याजेन वा स्मरेद्यस्तु स याति परमां गतिम्॥

कृष्ण—यह मङ्गल नाम जिसकी वाणीपर नृत्य करता है उसके सभी पातक नष्ट हो जाते हैं।

कृष्णेति मङ्गलं नाम यस्य वाचि प्रवर्तते।
भस्मीभवन्ति सद्यस्तु महापातककोटयः॥

सुखके अन्त होनेपर भगवन्नाम-उच्चारणसे बल मिलता है, दुःखके अन्तमें भी इसको जपना चाहिये और देहान्तके समय तो यह सार है ही—

सुखावसाने त्विदमेव गेयं दुःखावसाने त्विदमेव जाप्यम्।
देहावसाने त्विदमेव सारं गोविन्ददामोदर माधवेति॥

गोपीगणको यह नाम इतना प्रिय था कि वे प्रतिक्षण उच्चारण करतीं और तन्मय हो जाती थीं। एक गोपी दधिकी मटुकी लेकर दधि बेचने जा रही है और वह 'दधि लो दधि' यह प्रभुके दर्शन कर भूल जाती है तथा 'श्याम सलोना ले लो' पुकारने लगती है। मीराबाई कहती हैं—

या व्रजमें कछु देख्यौ री टोना।
ले मटुकी सिर चली रे गुजरिया
आगे मिले बाबा नन्दजू को छौना।
दधि कौ नाम बिसर गई गूजरी
ले ले री कोऊ स्याम सलौना॥

इस प्रकारकी भावना भगवन्नामके लिये उपयुक्त है। खाते-पीते, बैठते-उठते, सोते-जागते, चलते-फिरते—सर्वत्र भगवान्‌के नामका उच्चारण हो। यदि सामूहिक रूपसे बैठकर कुछ क्षण इसके लिये निकालें तो और भी उत्तम। भागवतके अन्तमें कहा है—

'नामसंकीर्तनं यस्य सर्वपापप्रणाशनम्।'

भगवान्‌का नाम-संकीर्तन समस्त पापोंको दूर भगा देता है। अतः इसके अभ्यासके लिये मासिक-पाक्षिक सप्ताहकी बैठक उपयोगी सिद्ध हो सकती है।

साधकोंके प्रति—

[मुक्ति]

परमार्थ-पथपर चलनेवाले साधक चाहते हैं कि हमें मुक्ति मिल जाय।

मुक्ति किसे कहते हैं ?

मुक्तिका शाब्दिक अर्थ छूटना है। जो बँधा है, उसे ही छूटना है; अतः सिद्ध हुआ कि हम बँधे हैं; क्योंकि हमें मुक्ति चाहिये। विचार करें, किससे बँधे हैं ? गम्भीरतापूर्वक सोचनेपर यह प्रत्यक्ष है कि हम अनुकूलता और प्रतिकूलतामें बँधे हैं। ये भाव ही हमें सुखी और दुःखी बनाते रहते हैं। जब हमें अनुकूल परिस्थिति मिलती है तब हम सुखी होते हैं और जब प्रतिकूल परिस्थिति होती है, तब हम दुःखी होते हैं। संसारके सुख और दुःख ये दो ही उसके रूप हैं। इसलिये भगवान्‌ने (गीता २। ३८में) कहा—

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि॥

'जय-पराजय, लाभ-हानि, सुख-दुःखको समान समझकर युद्ध करो तो तुमको पाप नहीं लगेगा।' 'पाप' अर्थात् बन्धन नहीं होगा—मुक्ति हो जायेगी। वस्तुतः हमें सुख और दुःख दोनोंको समान समझना है। तभी सुख-दुःखके भाव हमारे भीतरसे निकल सकते हैं। इसका उपाय क्या है ?

यह भी प्रश्न हो सकता है कि सुखसे भी छूटना पड़ेगा ? राम ! राम !! राम !!! सुख छूट जायेगा ?— अरे ! सुख वह छूटेगा जिसके साथमें दुःख है—जो दुःखोंका कारण है; उस सुखको तो छोड़ना ही पड़ेगा। यदि दुःखसे मुक्त होना चाहते हैं तो दुःखयुक्त सुखसे भी मुक्त होना पड़ेगा। अगर आप इस संयोगजन्य सुखको छोड़ोगे तो दुःख आपको छोड़ेगा और इस सुखको आप नहीं छोड़ोगे तो दुःख भी आपको नहीं छोड़ेगा। फिर तो सुख-दुःखका बन्धन रहेगा ही। और, तब मुक्ति कैसे मिल सकती है।

आप कह सकते हैं कि सुखका त्याग बड़ा कठिन है। हमारा तो उद्योग ही सुखके लिये होता है। संसारमें हम जो कुछ करते हैं वह सब सुखके लिये ही करते हैं। यह स्वभाव है कि—

'यद् यद् हि कुरुते जन्तुः तत् तत् कामस्य चेष्टितम्'।

हमारी मनचाही हो जाय, हमारी इच्छा पूरी हो जाय। दुःख तो मिट जाय और सुख हो जाय—इसीके लिये हम सब कुछ करते हैं। लोककी सारी प्रवृत्ति ही सुखेच्छाप्रेरित होती है। बात तो ठीक जँचती है; पर विचार तो कीजिये कि यह क्या सम्भव है कि हम केवल सुख ही प्राप्त कर लें।

यह चाहते और करते युग बीत गये, पर अभीतक दुःख मिटा नहीं और शाश्वत सुख मिला नहीं। यह प्रत्येक भाई-बहनका अनुभव है। विचार करें— इस जन्ममें बचपनसे लेकर अबतक हमने दुःख मिटाने और सुख प्राप्त करनेके लिये क्या-क्या नहीं किया ? अनेक प्रकारके उद्योग किये, परन्तु अभीतक दुःख नहीं मिटा और सुख नहीं मिला। इससे सिद्ध होता है कि दुःख मिटानेका और सुख-प्राप्तिका उपाय कोई दूसरा है। आजदिनतक देखा-देखी जो उपाय किये गये—विद्याध्ययन, धनोपार्जन, अनेक प्रकारके व्यवसाय —वे सब कारगर सिद्ध नहीं हुए। अतः अब शीघ्र ही कोई दूसरा रास्ता पकड़ना चाहिये।

यह मानव-जीवन संयोगजन्य सुख-दुःखसे ऊपर उठनेके लिये है। इसके लिये आवश्यक है कि हम इन दोनोंमेंसे श्रेष्ठको ग्रहण करें। तभी ये दोनों—इन

दोनोंके भाव—छूटेंगे। इन दोनों-(सुख-दुःख-) से श्रेष्ठ एक महान् सहज सुख वह है, जो इन्द्रियोंसे अतीत केवल शुद्ध हुई सूक्ष्म बुद्धिद्वारा ग्रहण करने योग्य है, और जो अनन्त आनन्द है, जिसकी अवस्थामें अनुभव करता और स्थित हुआ यह योगी भगवत्-स्वरूपसे चलायमान नहीं होता है' (गीता ६। २१)। गीताके अनुसार यह आत्यन्तिक सुख है, इससे बढ़कर कोई सुख नहीं है। वहाँ दुःखका लेश भी नहीं है।

'तं विद्याद् दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।'

—वहाँ दुःखोंके संयोगका ही वियोग है। 'दुःख-का स्पर्श ही नहीं हो सकता, ऐसा महान् सुख है वह। 'उस' सुखकी प्राप्ति कह दो चाहे 'इस' सुख-दुःखसे मुक्ति कह दो बात एक ही है। इस महान् सुख-की प्राप्तिमें शर्त यही है कि संयोगजन्य सांसारिक सुख छोड़ना ही पड़ेगा। प्रश्न है, हम अभ्यस्त आकांक्षित यह सुख छोड़ें कैसे?

इस-(दुःखमिश्रित सुख-)के छोड़नेका सरलतम उपाय है; वह यह है कि जिनसे आपका सम्बन्ध है, उन्हें तथा अभावग्रस्तोंको सुख दें। सुख देनेके दो प्रकार हैं—(१) सुख देनेमें जो सुख होता है उस सुखको भी नहीं लेना अर्थात् उस सुखको भोगकर प्रसन्न न होना और (२) सुखके देनेमें जो दुःख (परिश्रम) हो उसे स्वीकार कर लेना। सुख देकर जो सुख लेते हैं, उनका वह सुख बाँधनेवाला हो जाता है; क्योंकि सुख देकर सुख ले लिया तो हिसाब पूरा हुआ हो गया। किंतु सुख देकर सुख वापस नहीं लेते हैं तो हमारे दुःखोंका मूल कट जाता है; तात्पर्य यह कि सुखका त्याग कर दें अथवा सुख देकर सुख भोग न करें—ये दोनों ही बातें मुक्ति देनेवाली हैं। मूलतः कर्त्तव्यमें भीतरी-बाहरी उभयथा निष्कामता होनी चाहिये।

स्वयं अपने-आप भी आया हुआ सुख न लें अर्थात् अनुकूल परिस्थितिसे जो सुख मिलता है उसका भी त्याग कर दें, उस सुखके लिये उद्योग न करें। इसका यह अर्थ नहीं लेना चाहिये कि जीविकाके लिये भी उद्योग न करें, किंतु जिस-जिस वर्णाश्रममें जो जहाँ हैं, अपने कर्तव्यका तत्परतापूर्वक असक्त भावसे पालन करें। यही भगवान्का आदेश है—**'तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर'**।

कर्तव्य कर्म निरन्तर करना चाहिये, परंतु सुख लेनेके लिये नहीं, सुख देनेके लिये। यह दृढ़ निश्चय रखना चाहिये कि संयोगजन्य, उत्पत्ति-विनाशवाला सुख तो लेना ही नहीं है; क्योंकि हम तो महान् सुखके ग्राहक हैं। जो उत्पत्तिवाला सुख होता है, उसका अन्त विनाशजन्य दुःखमें होता है। जिस सुखसे पहले दुःख है उसके अन्तमें भी दुःख ही होगा। किंतु एक विलक्षण सहज सुख है, जिसका अन्त कभी होता ही नहीं; हाँ, वह सुख तभी मिलता है जब साधक लौकिक-पारलौकिक सुखोंसे ऊपर उठ जाता है।

शङ्का हो सकती है कि हम सुख लेनेकी इच्छा तो नहीं करते, पर कोई दूसरा अपनी इच्छासे सुख दे दे तो क्या करें?

ऐसी अवस्थामें सावधान रहें कि हमारा लक्ष्य तो सबको सुख पहुँचना है, सुख लेना नहीं है। अतः दूसरे कोई हमें सुख पहुँचावें तो भी उसे नहीं स्वीकार करे; क्योंकि किसीके पहुँचाये हुए सुखसे भी दुःख ही भोगना होता है। इसलिये दुःख मिटाना है तो ऐसा सुख भी छोड़ना होगा। यदि हम दुःखसे मुक्ति चाहते हैं तो लौकिक सुखसे पहले ही मुक्ति लेनी होगी एवं सुख और दुःख दोनोंसे ऊपर उठना होगा। तभी वह शाश्वत नित्य विलक्षण महान् सुख हमें मिल सकेगा।

गोरक्षाकी समस्या

'गावः प्रतिष्ठा भूतानाम्'

(लेखक—आचार्य पं० श्रीराजबलिजी त्रिपाठी, एम्० ए०, साहित्यरत्न, साहित्यशास्त्री, शास्त्राचार्य)

गौ आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक दृष्टिसे महत्त्वपूर्ण पशु है। उसके बछड़े बैल बनकर हल चलाते, भार ढोते, 'लेव' लगाते, रहट और मोटें खींचते हैं। गो-दुग्धकी पौष्टिकता सर्वविदित है। राष्ट्रिय स्वास्थ्य और सार्वजनिक शक्ति-संवर्धनके लिये गो-दुग्ध सर्वश्रेष्ठ पेय पदार्थ है। गो-दुग्ध बच्चे, बूढ़े, जवान, स्त्री-पुरुष—सभी पीते हैं, अतः दुग्ध पिलानेके नाते गौ सबकी मातृकल्पा है, माता है। गाय अपने दुग्ध, दही, गोबर, मूत्र और घृतसे हमारा, हमारे समाजका अनेकशः उपकार करती है। आर्थिक दृष्टिसे और स्वास्थ्यकी दृष्टिसे 'गव्य'मात्रकी उपयोगिता निर्विवाद है। गोमयसे गोबर-गैस, खाद, ईंधन आदिकी वस्तुएँ तैयार की जाती हैं। गो-घृत अनेक रोगोंमें उपयोगी तो है ही, पुराना हो जानेपर हृदय-रोगमें भी अत्यन्त लाभदायक सिद्ध होता है। इन्हीं सब बातोंके कारण वेदमें गौको अमृतका स्रोत **'अमृतस्य नाभिः'** कहा गया है। गाय विश्वकी आयु मानी गयी है। जिन सात पदार्थोंसे पृथ्वी धृत बतायी गयी है उनमें अगस्त्यने सबप्रथम गौका ही नाम लिया है—

गोविप्रैश्च वेदैश्च सतीभिः सत्यवादिभिः।
अलुब्धैर्दानशीलैश्च सप्तभिर्धार्यते मही॥
(शिवपु०)

गोधन भारतका पुराना प्रशस्य धन है, जिसकी चर्चा वेदसे लेकर इतिहास-पुराणोंतकमें भरी पड़ी है। 'श्रीसूक्त'में अग्निदेवसे वर्धिष्णु लक्ष्मीदेवीकी प्रार्थना गोधनादिके लिये ही की गयी है। फलतः गौ सामाजिक सम्माननीय पशुओंमें अग्रगण्य एवं संग्रहणीय है। अतएव गोपालन, गोसंरक्षण एक सामाजिक अपेक्षा भी है—धार्मिक कर्तव्य तो है ही।

धार्मिक दृष्ट्या गौको माता माननेकी परम्परा अत्यन्त प्राचीनकालसे चली आती है। वेदमें वह 'रुद्रोंकी माता, वसुओंकी पुत्री और आदित्योंकी बहन' मानी गयी है। गौके रोम-रोममें देवोंका वास होनेसे वह 'सर्वदेवमयी' कही गयी है। अथर्ववेदमें गोमहिमाके प्रसङ्गमें गोसूक्त है। उपनिषदोंमें भी गो-चर्चा है। गौ लोकमें अभ्युदय और परलोकमें परमगति देती है। वैतरणी पार करानेवाली गौ ही है। अतएव गोदानकी महिमा अद्वितीय है। गोदान प्रायः सभी धार्मिक कृत्योंके पूरकके रूपमें भी गृहीत है। इसीलिये गोदान धार्मिक कृत्यके साथ-साथ सांस्कृतिक रूपमें भी प्रचलित हुआ। राजा नृगने असंख्य गायोंका दान दिया था। **'बिप्र धेनु सुर संत हित'** अवतार लेनेवाले **'गोद्विज हितकारी'** भगवान् श्रीरामने दश सहस्र करोड़ (एक खरब) गायोंका दान दिया था। श्रीकृष्ण 'गोपाल' तो थे ही, उन्होंने द्वारिकामें जानेपर प्रथम ब्यायी हुई दुधार और बछड़ोंवाली सीधी, शान्त और वस्त्रालंकारसे समलंकृत तेरह हजार चौरासी गायोंका प्रतिदिन दान करनेका नियम बना लिया था। इससे गोदानकी अनुष्ठेयता सिद्ध होती है।

कामधेनु स्वर्गकी अनूठी शोभा ही नहीं, श्री-सम्पत्ति भी है, जो इस लोकसे उसे विलक्षण बनाये रखनेमें अद्वितीय साधन है। कामधेनु और कल्पवृक्षपर ही स्वर्ग-सुखकी आधारशिला संस्थापित है। महर्षि वसिष्ठकी नन्दिनी उसी कामधेनुकी वत्सतरी थी, जिसने गोभक्त दिलीपपर प्रसन्न होकर वरदान स्वीकार करनेको कहते हुए स्पष्टतः—**'प्रीताऽस्मि ते पुत्र वरं वृणीष्व'**के साथ यह भी कहा था कि 'मुझे केवल दूध देनेवाली ही न समझो, प्रत्युत प्रसन्न होनेपर कामदुघा (मनोरथ पूर्ण

करनेवाली) भी समझो (रघुवंश २ । ६३) ।' धार्मिक-जन आज भी गायको 'कामदुघा' मानते और गो-सेवा-(पूजा-) से पुत्रादिकी प्राप्ति करते हैं ।

गोपूजनादिकी परम्परा और सांस्कृतिक शृङ्खलाको 'गोपाष्टमी' सूचित करती है । संस्कृत परिवारोंमें आज भी गोपालन और गोग्रास निकालनेकी प्रक्रिया है । यज्ञादि कृत्योंमें तो गोग्रास निकालनेकी प्रक्रिया सत्रके लिये अनिवार्य है । गोग्रासका अनन्त पुण्य विहित है । गोपूजा, गोभक्ति, गोमन्त्र प्रभृतिके अनेक अनुभूत और प्रत्यक्ष लाभ सुनने-पढ़नेको मिलते हैं—शास्त्रोंने तो बताये ही हैं ।

प्रातःकाल और यात्रा-समय गोदर्शनसे पुण्य और सफलता मिलती है । गौओंकी संनिधिसे बुद्धि-विवेककी वृद्धि होती है, स्वास्थ्य ठीक रहता है, जिससे धर्ममें प्रवृत्ति होती है । 'गोष्ठ' और 'गोत्रज'की प्रतिष्ठा प्राचीन है । यही कारण है कि भारतीय प्राचीन धार्मिक यह कामना करते थे कि 'गायें मेरे आगे हों, पीछे हों और अगल-बगलमें रहें; मैं सदैव गायोंके बीचमें रहूँ'—

गावो ममाग्रतो नित्यं गावः पृष्ठत एव च ।
गावो मे पार्श्वयोः सन्तु गवां मध्ये वसाम्यहम् ॥
(पद्मपुराण)

गौकी ऐसी आर्थिक, सामाजिक, सांस्कृतिक एवं धार्मिक उपयोगिता और उपादेयता होनेपर भी गोवध-बन्दी-जैसे आवश्यक कर्त्तव्यका पालन न होना नितान्त चिन्त्य एवं अशोभनीय है । राष्ट्रपिता महात्मा गांधीने स्वराज्यके पहले कहा था कि 'भारतवर्षमें गोरक्षाका प्रश्न स्वराज्यसे किसी प्रकार भी कम नहीं है । कई बातोंमें मैं इसे स्वराज्यसे भी बड़ा मानता हूँ । जबतक हम गायको बचानेका उपाय ढूँढ़ नहीं निकालते, तबतक स्वराज्य अर्थहीन कहा जायेगा ।' चिरप्रतीक्षित भारतीय स्वातन्त्र्यके पूरे तैंतीस वर्ष बीत जानेपर भी गोरक्षाके सम्बन्धमें न तो राष्ट्रपिताकी, और न तो भारतकी कोटि-कोटि बहुसंख्यक जनताकी भावना, धारणा और आशाकी ही पूर्ति की जा सकी । कल्याण-राज्यके शासकोंको महात्मा गांधीके ही शब्दोंमें यह समझना चाहिये कि 'भारतकी सुख-समृद्धि गौ और उसकी संतानके साथ जुड़ी हुई है ।' साथ ही प्रत्येक व्यक्ति और समाजको भी गोरक्षाके लिये रचनात्मक कार्य करने चाहिये । सरकारें विधि-विधानोंद्वारा जनतन्त्रके बहुमत-की भावनाकी रक्षाके लिये गो-संहारात्मक कार्य पूर्णतः रोक सकती हैं । अधिकतर राज्योंकी सरकारोंने कानूनके द्वारा अंशतः गोवध-बन्दी कर दी है, यदर्थ उन्हें धन्यवाद है, पर जबतक पूर्णतः गोवध-बन्दी नहीं हो जाती, तबतक गोरक्षाकी मर्मवेधी समस्या बनी ही रहेगी । अतः अंशतः गोवध-बन्दीवाले राज्योंमें पूर्णतः बन्दी-हेतु एवं जहाँ अभी गोवधबन्दीके कानून नहीं हैं, वहाँ सर्वथा सर्वांशमें उसके लिये शीघ्र कानून बनाया जाना चाहिये । गोवधके कलंकको केन्द्र सरकार कारगर कानून द्वारा आसानीसे मिटा सकती है । गोभक्तोंको उससे आशा है । क्या केन्द्रसरकार इधर भी ध्यान देगी ?

समाजको चाहिये कि प्रचार-प्रसारद्वारा लोगोंसे ऐसी प्रतिज्ञाएँ कराये जिनसे गोपालन-पोषण, संरक्षण करनेके विपरीत गोवधमें सहायक कोई भी कार्य न करें । वे गाय, बैल, बछड़ों और लूले-लँगड़े गोवंशकी हिफाजत स्वयं रखें, प्रेरणा देकर दूसरोंसे रखवावें । इनके पूरे जीवन-भरतक पालन-पोषण और संरक्षण करनेका नियम-पालन किया जाय । पुराने सामाजिक नियमोंका भी उद्धार और प्रचलन किया जा सकता है, जिससे अपाहिज, बूढ़े गोवंशकी भी संरक्षा हो सके । पिंजरापोलों, गोरक्षिणियों और प्रशस्त गोशालाओंकी व्यवस्था ग्राम-ग्रामतक फैल जानी चाहिये । एतदर्थ धनी-मानी धार्मिकोंको आगे आना चाहिये । गोचरभूमिकी व्यवस्था होनी चाहिये । गोचरभूमि

छोड़नेसे अत्यन्त पुण्य होना बताया गया है। साथ ही यदि जन-समाज सचमुच गोवंशका संरक्षण-संवर्धन चाहता है, जो अवश्य वाञ्छनीय है, तो उसे सम्पूर्णतः गोवधबन्दीके लिये यह नियम बना लेना चाहिये कि वे अपने गोवंशको उन लोगोंके हाथों न बेचें (या किसी प्रकार समर्पित न करें) जो गोवंशीयोंको उन राज्योंमें ले जाते, भेजते या भेजवाते हैं, जहाँ गोवध-बन्दी नहीं है। इससे गोसंरक्षणको महत्त्वपूर्ण योगदान मिल सकता है। समाजको चाहिये कि गोसेवा संलग्न-संस्थाओं और समितियोंके निर्देशानुसार गोपालन, गोसंरक्षणके लिये रचनात्मक कार्य करे, जिससे गोवंशकी सर्वथा संरक्षा हो सके। ध्यान रहे—महात्मा गांधीके शब्दोंमें ही 'गायकी रक्षा करना ईश्वरकी सारी मूकसृष्टिकी रक्षा करना है।' अतः हमें आशा है कि समाज और शासन सद्भाव और सहयोगसे गोरक्षाकी प्रकृत कृत्रिम समस्या शीघ्रतर सुलझाकर बहु जन-भावनाका समादर करेंगे।

गौकी आर्त पुकार

सवैये—मातु समान मैं पालति हौं, निज दूध पियाइके खाइके सानी।
दूध पिये दहिको रुचिसों, घृतसों करे पाक सबै मनमानी॥
तापर मों कहँ मारत हैं जिनके हिये नेक दया न समानी।
रक्षक भक्षक होइ गये तव म्लेच्छनतें को बचावइ आनी ?॥ १॥

पार लगावति बैतरनी, मरिबेपर वेद-पुरान बखानी।
हैं बछिया अछिया हमरी सबै, बाछनको सुनौ नेक कहानी॥
खेतको जोतत, गाड़िहु खैंचत, सींचनके हित ऐंचत पानी।
गोबर शुद्ध करै महिको, अरु मूत्र मिटावत रोग निसानी॥ २॥

खादतें भूमिकी शक्ति बढ़ै, उपजै बहु अन्न सबै जग जानी।
मेटत हैं तनके सब ताप ये, पाँचहु 'गव्य' महा सुखदानी॥
जीवत साज सजौं सुखकं, बल-बुद्धि बढ़ाय सुनो मम बानी।
हव्यसे यज्ञ सधैं सिगरे, अरु यज्ञहिं तें बरसै जग पानी॥ ३॥

पानिहितें उपजैं सब अन्नऽरु, अन्नहि तें जग जीवत प्रानी।
मेरे नसे नसिहै सब लोक, न बूझत बात महा अभिमानी॥
राखि सकैं गज बाजि जेऊ, तेउ गाय न राखत हैं सनमानी।
ग्रासको दान, प्रदक्षिण, पूजन, कौन करे ? सब मे अघखानी॥ ४॥

गोचर-भूमि बँची न कहूँ, मोहि भारतमें न मिले तृन-पानी।
धर्मकी धाक मिटी जबतें तबतें सब होइ गइ मनमानी॥
हिंदुहुके घरमें नहिं ठौर हमें, सुनिये यह दुःख कहानी।
सिद्ध कहैं या गरीबिन गायकी, हाय सुनो अब संभु-भवानी॥ ५॥

(रचयिता—स्व० पं० श्रीसतीप्रसादजी त्रिपाठी 'सिद्ध')

गोस्वामी तुलसीदासजीका मानस-रोग-वर्णन—एक मनोवैज्ञानिक दृष्टि

(लेखक—डॉ० श्रीहरगोपाल सिंह)

गोस्वामी तुलसीदासजीकी काव्य-प्रतिभा सर्वतोमुखी है। जग-जीवनका कदाचित् ही कोई ऐसा पक्ष हो, जिसे उनकी लेखनीने स्पर्श न किया हो। रघुवंशियोंके आदर्श चरित्रसे लेकर राक्षसोंके दुश्चरित्रतकके तथा मनुष्योंके सामान्य व्यवहारके भी वे चतुर-चितेरे थे। मनोवैज्ञानिक मानस-रोगके रूपमें उन्होंने मनुष्यके विकृत रूपको भी भली-भाँति पहचाना था। इसलिये अपने ग्रन्थमें उन्होंने मानस-रोगोंका विस्तृत वर्णन किया है। उत्तरकाण्डमें दोहा संख्या १२० से आगेके प्रसङ्गमें वे कुछ मानस-रोगोंके लक्षण, कारण और चिकित्साक्रमसे विधिवत् वर्णन करते हैं। किंतु ये मानस-रोग-चिकित्सकोंद्वारा सामान्यतया वर्णित उग्र मानस रोगोंसे भिन्न हैं, अतः प्रश्न उठता है कि उनका मानस-रोग-वर्णन कितना आधुनिक और वैज्ञानिक है? प्रस्तुत लेखमें उनके इस वर्णनका मूल्याङ्कन आधुनिक मनोवैज्ञानिक-चिकित्सा तथा आयुर्वेदचिकित्सा—दोनोंकी कसौटीपर किया जा रहा है।

मानस-रोगोंके लक्षणोंका वर्णन महाकवि इन शब्दोंसे प्रारम्भ करते हैं—

सुनहु तात अब मानस रोगा। जेहिं ते दुख पावहिं सब लोगा॥

और फिर २३ मानस रोगोंका संक्षिप्त वर्णन करते हैं, जिनमें नाम-भेदसे पुनरावृत्ति है। इन्हें छाँटकर हम चौदह प्रकारोंमें विभाजित कर सकते हैं; यथा—काम, क्रोध, लोभ, तृष्णा, ममता, ईर्ष्या, हर्ष, मोह, विषाद, दुष्टता, अहंकार, भय, वियोग और मान। इनमें मोहको सभी व्याधियोंका मूल बतलाया है। हर्ष और विषाद भी ग्रहके समान ग्रसित करते हैं। इन व्याधियोंसे संत और मुनि भी पीड़ित होते हैं तथा ये समाधि एवं व्यवहारकी सम्यक् अवस्था प्राप्त करनेमें बाधक होते हैं। लक्षण-वर्णनके अन्तमें गोस्वामीजी कहते हैं—

मानस रोग कछुक मैं गाए। हहिं सब कें लखि बिरलेन्ह पाए॥

इससे पहले वे यह भी कहते हैं—

एहि बिधि सकल जीव जग रोगी। सोक हरष भय प्रीति बियोगी॥

इन चौपाइयोंमें मानस रोगोंका एक सामान्य रूप उभरकर सामने आता है कि ये सब रोग विभिन्न मात्रामें सभी लोगोंमें होते हैं, किंतु इनपर कोई ध्यान नहीं देता; क्योंकि ये स्वाभाविक विकार या भाव हैं। जो दीर्घ और भयंकर मानसिक रोग होते हैं, उनके नाम पाश्चात्त्य मनश्चिकित्सा और आयुर्वेदमें बिल्कुल भिन्न हैं।

पाश्चात्त्य मनश्चिकित्सा-विज्ञानमें रोगोंको कई प्रकारसे वर्गीकृत और वर्णित किया गया है; जैसे दीर्घ और लघु; साध्य और असाध्य आदि। जे० एफ्० ब्राउनने अपनी पुस्तक—'साइकोडायनेमिक्स आफ ऐबनोरमल बिहेवियर'में दीर्घ मानस-असामान्यताओंके वर्णनसे पहले लक्षण-शास्त्रके भागमें मनुष्यके ज्ञानात्मक, क्रियात्मक और भावात्मक पक्षकी विकारयुक्त असामान्यताओं और लक्षणोंका वर्णन किया है, जो अधिक मात्रामें बढ़ जानेसे उग्र मानस रोगोंका रूप धारण कर लेते हैं, अन्यथा लघु मात्रामें सबमें रहते ही हैं। भावात्मक पक्षकी जिन असामान्यताओंका वर्णन उन्होंने किया है, उनमेंसे आठ ये हैं—मोह, काम, क्रोध, तृष्णा, हर्ष, विषाद, अहंकार और भय। ये तुलसीदासजीके वर्णनमें भी प्राप्त हैं। पाश्चात्त्य मनश्चिकित्सा-शास्त्रमें दीर्घ, लघु रोगों और मानस-दोषों तथा लक्षणोंको प्रायः एक ही नाम—'ऐबनोरमेलिटी' अर्थात् असामान्यतासे निर्दिष्ट हुआ है।

चरक, सुश्रुत, वाग्भट, चक्रपाणिदत्त, डल्हण, शार्ङ्गधर इत्यादि आयुर्वेदीय ग्रन्थकारोंने भी शारीरिक रोगोंके अतिरिक्त मानस रोगोंका भी विस्तृत वर्णन किया है, जिसके अन्तर्गत मानस भावोंका वर्णन रोग,

रोगोत्पादक भाव एवं रोग-लक्षणके रूपमें किया है। इनमेंसे नौ—काम, क्रोध, भय, शोक, लोभ, मोह, अहंकार, इच्छा और मद गोस्वामीजीके वर्णनमें भी मिलते हैं। आयुर्वेदका यह भी कथन है कि ये भाव सभी मनुष्योंमें जन्मजात होते हैं, किंतु इनसे रोग तभी उत्पन्न होते हैं, जब ये भाव निरन्तर दीर्घ समयतक उग्र रूपमें बने रहते हैं। जहाँ इन भावोंको रोग-रूपमें वर्णित किया है, वहाँ इनके कारण तथा चिकित्सा भी बतायी है। इस तरह इन सर्व-मनुष्य-व्यापी मानसिक भावोंको आयुर्वेदमें भी रोगरूपमें वर्णित किया गया है। गोस्वामी तुलसीदासजीद्वारा इनका मानस रोगरूपमें वर्णन करना मनोवैज्ञानिक दृष्टिसे संगतिपूर्ण ही है। उपर्युक्त वर्णनसे स्पष्ट है कि महाकविने मानसके प्रकृतिजन्य भावोंको मानस-रोगोंके रूपमें वर्णित किया है, जो मात्रामें अधिक हो जानेपर उग्र रोगोंकी परिधिमें पहुँच जाते हैं। यह सिद्धान्त पाश्चात्त्य मनश्चिकित्सा-विज्ञान एवं आयुर्वेद चिकित्साशास्त्र दोनोंके दृष्टिकोणोंसे ठीक है।

मानस-रोग-कारण-वर्णन

महाकवि तुलसीदासजीने तीन बार इन मानस रोगोंको सभी मनुष्योंमें होनेवाला कहा है। सामान्य मनुष्योंमें ही नहीं, आदर्श चरित्रके संत और मुनियोंमें भी इन रोगोंका होना बताया है, लेकिन उन्हें बिरले ही पहचान पाते हैं। जब सभी मनुष्योंमें ये रोगदोष होते हैं तो वे एक प्रकारसे प्रकृतिदत्त हुए; अर्थात् वे मानस-भाव-रोगोंको जन्मजात मानते हैं। पाश्चात्त्य चिकित्सा-विशेषज्ञ ब्रॉउनने भी इस प्रकारके दोषोंको भावनापक्षकी असामान्यताएँ बताते हुए सभी मनुष्योंमें मात्रात्मक-भेदसे आवश्यक रूपमें होनेवाला प्रकृतिजन्य कहा है। आयुर्वेदके विद्वान् भी इन मानसदोषी भावोंको सभी मनुष्योंमें जन्मसे ही प्राप्त होनेवाला मानते हैं। अतः ये रोग प्रकृतिदत्त और जन्मजात हैं। इस दृष्टिसे तुलसीदासजी-द्वारा इन सामान्य और लघु मानस-रोगोंको सभीमें होनेवाला और जन्मजात कहना ठीक ही है। संक्षेपमें इन सभी दृष्टिकोणोंसे इनका कारण प्राकृतिक और जन्मजात है।

मानस-रोग—चिकित्सा-वर्णन

मानसरोग-प्रसङ्गके अन्तिम चरणमें गोस्वामीजीने इन रोगोंको दूर करनेके कितने ही उपाय बताये हैं जैसे—नियम एवं धर्मपालन, उच्च आचरण, तप, ज्ञान, यज्ञ, जप, दान करना इत्यादि; तथापि, उनका विचार है कि इन उपचारोंसे भी मानस-रोगोंसे पूर्णतया छुटकारा नहीं मिलता अतः अन्ततः सर्वोत्तम उपाय तथा परिणाम श्रीरामकी भक्ति ही है—'तब रह राम भगति उर छाईं।' इनका कहना है कि यदि संशयनाशक सच्चा श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ* गुरु मिल जाय, वेद-वचनमें विश्वास हो और संयमका पालन करते हुए श्रद्धासहित रामकी भक्ति की जाय तो ये सब रोग नष्ट हो जाते हैं। पूज्य गोस्वामीजीके मानस-वचन हैं—

राम कृपाँ नासहिं सब रोगा। जौं एहि भाँति बनै संयोगा॥
सद्गुर बैद बचन बिस्वासा। संजम यह न बिषय कै आसा॥
रघुपति भगति सजीवन मूरी। अनूपान श्रद्धा मति पूरी॥
एहि बिधि भलेहिं सो रोग नसाहीं। नाहिं त जतन कोटि नहिं जाहीं॥

रामभक्तिसे रोग किस प्रकार दूर होंगे—इसे स्पष्ट करते हुए गोस्वामीजी कहते हैं श्रीरामकी भक्तिसे धीरे-धीरे विषयोंसे विराग उत्पन्न होगा, फिर सद्बुद्धि बढ़ेगी, शुद्ध ज्ञानकी धारा बहेगी और अन्तमें सभी मानस-रोगोंसे छुटकारा मिल जायगा।' इस तरह रामभक्ति चिकित्साका भावी रोगनिवारक क्रम क्या होगा; इसे भी आप निरूपित कर देते हैं।

*—(क)—गुरुमेवाभिगच्छेत्······श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्। (मुण्डक उप०)
(ख)—श्रोत्रिय ब्रह्मनिष्ठ गुरु ही संशयोंको दूर कर सकता है—
'सद्गुर मिले जाहिं जिमि, संसय भ्रम समुदाइ।' (रा० च० मा० ४। १७)
(ग)—गुरु-महिमापर मानसकी वन्दना, भुशुण्डिप्रकरण तथा कल्याणके गताङ्क—अगस्त १९८० का 'गुरुतत्त्व—आगमिक दृष्टि' लेख भी द्रष्टव्य है।

तुलसीदासजीद्वारा बतायी गयी चिकित्सा—'रामभक्ति' का जब मूल्याङ्कन करते हैं तब हमारा ध्यान सर्वप्रथम योग-प्रक्रियाओंकी ओर जाता है; क्योंकि मनका सन्तुलन करना और मानस-विकृतियोंका निवारण करना योगके मुख्य विषय हैं। तुलसीदासजीद्वारा बतायी भक्ति-चिकित्सायोगकी चिरप्रतिष्ठित पद्धति भक्तियोग ही है। अन्तर केवल इतना है कि योग वैयक्तिक भेदोंके अनुसार विभिन्न व्यक्तियोंको विभिन्न देवी-देवताओंकी भक्ति उपचारित करता है और तुलसीदासजीने सबके लिये केवल रामकी भक्ति ही करनेका उपदेश दिया है, जो वैयक्तिक मानसिक भेदोंके कारण विभिन्न मात्रामें किसीको शीघ्र तथा किसीको देरसे लाभ पहुँचानेवाली औषध होगी।

आयुर्वेद बृहत्त्रयी-विद्वानोंने विभिन्न मानसरोगोंके लिये युक्ति-विपाश्रय, सत्त्वविजय और दैव विपाश्रय-चिकित्साएँ बतायी हैं। इनमेंसे दैव-विपाश्रयके अन्तर्गत बहुत-सी ऐसी चिकित्साएँ आती हैं, जिनका आदिस्रोत अथर्ववेद है। ये हैं—मणि, मन्त्र-तन्त्र, जप, उपवास, यज्ञ, संयम, ज्ञान, संकल्प, ओषधिसेवन, प्रायश्चित्त, दान, भक्ति, पूजा, मङ्गलकर्म इत्यादि। इनमें तुलसीदासजीद्वारा निरूपित आठ सामान्य उपचार ही नहीं, उनकी विशिष्ट उपचार-पद्धति—पूजा एवं भक्ति भी सम्मिलित हैं।

अन्तमें जब हम पाश्चात्त्य मनश्चिकित्सा-विज्ञानमें वर्णित चिकित्सा-पद्धतियोंकी विस्तृत सूची देखते हैं तो धर्म-चिकित्सा आदि ऐसी पुरानी चिकित्साएँ भी दीखती हैं, जो भक्ति एवं पूजा-उपचारोंके ही दूसरे नाम हैं। अतः तुलसीदासद्वारा निर्देशित भक्तिचिकित्सा मूल्याङ्कनमें अन्य चिकित्साओंके समान है जो योग, आयुर्वेद और पाश्चात्त्य मनश्चिकित्सा-पद्धतियोंमें विभिन्न नामोंसे मिलती हैं। इन मानसिक भावदोषोंका सम्बन्ध मनुष्यकी मूलभूत प्रकृतिसे है, जो उसे जन्मसे ही धरोहरके रूपमें मिली है और इसीलिये उन (भवदोषों) को ये असाध्य रोग कहते हैं। इन रोगोंका उपचार-क्षेत्र बहुत विस्तृत है। दीर्घ मानस रोग मनुष्यके सांसारिक कर्मोंसे उत्पन्न होते हैं, अतः उनका उपचार भी सांसारिक एवं सरल है। लेकिन जन्मजात प्रकृतिजन्य विकारों एवं दोषोंको दूर करना बड़ा दुष्कर है। इस गम्भीरताको तुलसीदासजीने भलीभाँति पहचाना और उसके लिये उचित उपचार—रामभक्ति अर्थात् भक्तियोग बताया; जिसके वे विशेषज्ञ और चिर अनुभवी थे। रामभक्ति और श्रद्धासे ओत-प्रोत होकर उन्होंने समस्त काव्य सृजन किया, जिससे उनका नाम हिन्दीसाहित्यमें शशीकी तरह शीतल शान्ति एवं सुख देनेवाला है। मानस-रोगमुक्तिका चिह्न है—'संसारसे उपरति'—विषयेच्छासे मुक्ति और सुमति तथा सद्ज्ञानकी निरन्तर वृद्धि—

जानिअ तब मन बिरुज गोसाँई। जब उर बल बिराग अधिकाई॥
सुमति छुधा बाढ़इ नित नई। बिषय आस दुर्बलता गई॥
बिमल ग्यान जल जब सो नहाई। तब रह राम भगति उर छाई॥
(रा० च० मा० ७। १२१। ५-६)

उपर्युक्त विवरणसे स्पष्ट है कि महाकविने जिन मानसरोगोंका वर्णन किया है, वे मनुष्यकी प्रकृति एवं जीवनके मूलभूत दोषपूर्ण मनोभाव हैं, जीवनके सुख-समृद्धि एवं सब प्रकारके अभ्युदयके लिये इनका नष्ट होना आवश्यक है; अन्यथा ये रोग उग्र रूपमें उभड़कर मनुष्यको सदाके लिये दुखी बना देते हैं। सर्वप्रजानुरञ्जक श्रीरामके परम भक्त तुलसीदासजीसे यह आशा नहीं की जा सकती कि वे किसी एक समुदाय या वर्गके कष्टमय दीर्घ मानसरोगोंका ही विवेचन और उपचार बताते। वे सर्वजनहिताय सोचते और कार्य करते थे। अतः उनके लिये स्वाभाविक था कि वे उन्हीं रोगोंका उपचार बताते, जिनसे मनुष्य मात्र पीड़ित रहते हैं। भक्तियोगका आश्रय लेनेपर मनुष्यकी आधारभूत प्रकृति बदल जाती है, इहलोक और परलोक दोनों ही सुधर जाते हैं और साधक कृतार्थ हो जाता है। इसीलिये तुलसीदासजीने भक्तियोगको 'मानस रोग'का अमोघ उपचार बतलाया।

पढ़ो, समझो और करो

(१)

भिखारी या उपकारी

मुझे प्रति शुक्रवार तथा शनिवारको बोटाद कालेजमें लेक्चर देने जाना पड़ता था। शुक्रवारको अपने समस्त पीरियड पूरे करके, दोपहरमें तीन बजेकी मेलसे वापस आकर मैं रातको धुंधुका रुकता। प्रातः फिर धुंधुकासे बोटाद जाकर पीरियड लेकर शामको अपने गृहनगर—भावनगर वापस आ जाता।

उस दिन भी २।४० बजे अपना अध्यापन कार्य पूराकर मेल पकड़नेके लिये मैं शीघ्रतासे कालेजसे निकलकर बसद्वारा रेलवे-स्टेशन पहुँचा। टिकट आदि लेनेके बाद प्लेटफार्मपर पहुँचा तो पता लगा कि ट्रेन अभी नहीं आयी है। मैं आश्वस्त हो प्रतीक्षा-हेतु एक बेंचपर बैठ गया। थोड़ी देर बाद एक भिखारी-जैसा लड़का मेरे सामने आकर खड़ा हो गया। उपेक्ष्य भावसे एक बार उसकी ओर देखकर मैंने दृष्टि घुमा ली। लड़का मेरी ओर ही देख रहा था। लगता था कि वह कुछ कहना चाहता है। मुझे लगा कि अभी अपनी दीनता दिखाकर कुछ माँगेगा।

वह मेरी ओर बराबर घूरता ही जा रहा था। उसकी दृष्टिसे बचनेके लिये मैं वहाँसे उठकर पेपर-स्टालपर जाकर खड़ा हो गया। वह भी जब मेरे पीछे-पीछे वहाँ चला आया तो उसके इस व्यवहारसे चिढ़कर मैं कुछ कटुतासे बोला—'क्या चाहिये तुझे?' साथ ही १० पैसेका एक सिक्का निकालकर उसे दूर हटानेकी आशासे उसकी ओर बढ़ा दिया। वह क्षणभर मुझे देखता रहा, पश्चात् मुट्ठीसे एक कागज निकालकर मेरी ओर बढ़ाते हुए उसने प्रश्न किया—'बाबूजी! यह चेक आपका है?' उस चेकको देखकर मुझे अपने वेतनका चेक याद आ गया। मैं श्वास रोके हुए एक ही बारमें अपनी सारी जेबें देख गया। चेक जेबमें नहीं था। उसके हाथसे चेक लेकर मैंने ध्यानसे देखा, तो स्पष्ट हो गया कि यह मेरे नामका वही चेक था। उसने बतलाया—'आपने जब टिकट लेनेके लिये पैसे निकाले तभी यह गिर गया था। उस ओर दृष्टि जानेपर मैंने शीघ्रतासे जाकर इसे उठा लिया।' उसकी बातें सुनकर मैं अवाक् रह गया। इसके पहले कि उसके इस उपकारके लिये मैं उसे धन्यवाद दूँ अथवा किसी रूपमें अपनी कृतज्ञता व्यक्त करूँ, वह भिखारी लड़का वहाँसे खिसककर कहीं ओझल हो चुका था। मैं उसे कुछ देरतक ढूँढ़ता भी रहा, पर सफल न हो सका। उस दिनके पश्चात् बोटादके रेलवे-स्टेशनपर फिर कभी मैंने उस लड़केको नहीं देखा। सम्भवतः वह जानकर ही मेरे सामने न आया हो। किंतु एक उदार ईमानदार भिखारीने एक अहम्मन्य प्रोफेसरको अप्रत्याशित कृतज्ञ बनाकर कैसी शिक्षा दी!

—प्रो० एम्० देसाई (अखण्ड-आनन्द)

(२)

रामरक्षा-स्तोत्रका अनुभूत चमत्कार

घटना मई सन् १९७७की है, जब मैं जयनारायण कॉलेज लखनऊमें शास्त्रि-परीक्षा-द्वितीय वर्षकी परीक्षा दे रहा था। तीन प्रश्नपत्र सम्पन्न हो चुके थे, अग्रिम प्रश्नपत्र 'साहित्यदर्पण'का था, जिसके प्रति मेरी अभिरुचि तथा उत्साह अन्य विषयोंकी अपेक्षा न्यून थे। संयोगवश उस दिन मुझे परीक्षा-स्थलपर पहुँचनेमें कुछ विलम्ब भी हो गया। परीक्षा-भवनमें मेरे पहुँचते ही उत्तर-पुस्तिका एवं प्रश्नपत्र हस्तगत हुए। विलम्बसे पहुँचनेकी घबराहट तथा विषयके प्रति अनुत्साहके कारण प्रश्न-पत्रको देखते ही मैं हतप्रभ हो गया। सारे प्रश्न मुझे बिल्कुल नवीनसे लगे।

विचार करने लगा कि इस प्रश्नपत्रमें तो निराशा ही हाथ लगेगी। किंतु यकायक मेरे मस्तिष्कमें प्रसुप्त-चेतना बिजलीकी तरह कौंध गयी। मुझे दिव्य शक्ति-सम्पन्न 'रामरक्षा-स्तोत्र'का स्मरण हो आया। अब तो उत्तर-पुस्तिका एवं प्रश्नपत्रको मेजपर एक ओर रखकर मैं आर्तभावसे रामरक्षा-स्तोत्रका मन-ही-मन पाठ करने लगा। पाँच बार रामरक्षा-स्तोत्रका पारायण कर लेनेके बाद मैंने प्रश्नपत्रका अवलोकन किया।

अमोघ रामरक्षा-स्तोत्रका पारायण करनेके बाद अब जब मैंने जो प्रश्नपत्र हल करना प्रारम्भ किया तो शनैः-शनैः मुझे ऐसी अनुभूति हुई, मानो मुझे सारे प्रश्न याद हों और मैं बिना रुके, सम्यक् प्रकारसे उत्तर-पुस्तिकामें लेखन-कार्य करनेमें गतिशील हो गया। उस दिन परीक्षा-भवनसे निकलते समय मुझे अन्य दिनोंसे अधिक शान्ति और संतोष प्राप्त हो रहा था। सबसे अधिक सुखद आश्चर्य तथा हर्षकी अनुभूति तो मुझे उस समय हुई जब परीक्षा-फल प्राप्त होनेपर अङ्क-सूचीमें सर्वाधिक अङ्क उसी प्रश्न-पत्रमें प्राप्त होना विदित हुआ। यह है रामरक्षा-स्तोत्रका चमत्कारी प्रभाव और उसपर श्रद्धा करनेका सुपरिणाम। उसका नियमित पाठ तो मैं पहले भी करता था; किंतु इस घटनासे इस स्तोत्रके प्रति आस्था और भगवद्विश्वास और भी दृढ़ हो गया है। स्तोत्रमें ठीक ही कहा है कि—

'जो मनुष्य 'वज्रपञ्जर'नामक इस रामकवचका स्मरण करता है, उसकी आज्ञाका कहीं उल्लङ्घन नहीं होता और उसे सर्वत्र जय और मङ्गलकी प्राप्ति होती है—

वज्रपञ्जरनामेदं यो रामकवचं स्मरेत्।
अव्याहताज्ञः सर्वत्र लभते जयमङ्गलम्॥

—रामप्रकाश शास्त्री, एम० ए०

(३)

आदर्श ईमानदारी

घटना अभी हालकी ही है और इस बातकी ओर संकेत करती है कि घोर भौतिकतावादी इस वर्तमान युगमें भी पृथ्वी ईमानदार व्यक्तियोंसे अभी सर्वथा विहीन नहीं हुई है।

जून १९८० की बात है। मेरे ससुराल गुलाबपुरा, जिला—भीलवाड़ा (राजस्थान) में मेरे बड़े साले शिवप्रकाशजी सोनीके सुपुत्र चि० नटवरलालका जन्मोत्सव बड़े हर्षोल्लासके साथ मनाया जा रहा था; किंतु विधिका विधान, इस हर्षके माहौलमें कुछ गमी आ गयी। हुआ यह कि—श्रीशिवप्रकाशजी अपनी पैंटकी जेबमें, जो चूहोंद्वारा काटी हुई थी और जिससे वे अनभिज्ञ थे, नौ सौ रुपये रखकर व्यापारके किसी आवश्यक कार्यवश अपनी निजी कारद्वारा अजमेर जानेको उद्यत हो गये। मकानके पास कारमें बैठते समय जेबसे सारी रकम नीचे गिर गयी, जिसका उन्हें कोई पता न चला। दैवीसंयोगसे उनके पड़ोसी श्रीअब्दुलदाउदके पासमें ही खेलते हुए दो छोटे बच्चोंकी (जिनमें एक ८ वर्षकी बच्ची तथा ६ वर्षका बालक था) निगाह उन गिरे हुए नोटोंपर चली गयी। उनमेंसे एकने दौड़कर नोटोंको उठा लिया और तुरंत अपने घर आकर अपने पिता (दाउद भाई)को वह राशि सुपुर्द कर दी। इस बड़ी रकमको पाकर श्रीअब्दुलदाउदका मन तनिक भी विचलित न हुआ; बल्कि बच्चोंसे पूछ-ताछ करनेपर जब उन्हें मालूम हुआ कि ये रुपये अपने पड़ोसी सोनी परिवारके ही हैं तो उन्होंने मेरे श्वशुरसाहब (श्रीलालचन्दजी सोनी) के पास जाकर यह राशि उन्हें सँभला दी। इस कलिकालमें ईमानदारीके ऐसे उदाहरण प्रायः बहुत कम ही दृष्टिगोचर होते हैं। —छीतरलाल सोनी



श्रीहरिः

श्रीभगवन्नाम-जपकी शुभ सूचना

जपकी अवधि कार्तिक-पूर्णिमा विक्रम-संवत् २०३६ से चैत्र पूर्णिमा विक्रम-संवत् २०३७ तक—

हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे॥

—इस षोडशनाम महामन्त्रका ३१ करोड़से भी अधिक जप तथा पाँच अरबसे अधिक नाम-जप हुआ।

आनन्दका विषय है कि कल्याणमें प्रकाशित प्रार्थनाके अनुसार प्रतिवर्षकी भाँति उपर्युक्त पाँच मासकी अवधिमें हमारी इक्कीस करोड़ मन्त्र-जपकी प्रार्थनाके स्थानपर एकतीस करोड़से कुछ अधिक ही मन्त्र-जप सम्पन्न हुआ है। इस प्रकार इस जप-यज्ञमें सम्मिलित होकर कल्याणके भगवद्विश्वासी नामप्रेमी पाठक-पाठिकाओंने भगवन्नामके प्रति अपनी आस्था और प्रीतिका परिचय दिया है, साथ ही नामजप स्वयं करके एवं दूसरोंसे करवाकर विश्व-कल्याणार्थ इस जप-अनुष्ठानमें सहयोग देकर पुण्यार्जन किया है। ये सभी भाई-बहन श्रीभगवान्के अनुग्रहके पात्र हैं। इसके लिये हम सब उन सबके हृदयसे आभारी हैं। सम्पन्न हुए इस जपके सम्बन्धमें कुछ उल्लेखनीय बातें इस प्रकार हैं—

(क) मन्त्र-संख्या ३१,३१,९०,००० (एकतीस करोड़, एकतीस लाख, नब्बे हजार)।

(ख) नाम-संख्या ५,०१,१०,४०,००० (पाँच अरब, एक करोड़, दस लाख, चालीस हजार)।

(ग) षोडश-मन्त्रके अतिरिक्त अन्य मन्त्रोंका भी जप हुआ है।

(घ) बालक-युवा-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, गरीब-अमीर, अपढ़ एवं विद्वान्—सभी तरहके लोगोंने जपमें उत्साहसे योग दिया है।

(ङ) अनेक लोगोंने जप किये जानेकी सूचना दी है, पर संख्या नहीं लिखी। अतः वे संख्याएँ नहीं जोड़ी जा सकी हैं।

(च) कई व्यक्तियोंने इस क्रमको जीवनभर निभानेका निश्चय किया है। यह उत्तम है।

(छ) भारतका शायद ही कोई ऐसा प्रदेश बचा हो, जहाँ जप न हुआ हो। भारतके अतिरिक्त बाहर—नेपाल, बाँगलादेश आदिसे भी जप होनेकी सूचनाएँ प्राप्त हुई हैं।

(ज) कुल १,२९१ (एक हजार दो सौ इक्यानबे) स्थानोंके नाम हमारे यहाँ अङ्कित हुए हैं। नाम अङ्कित होनेमें कुछ भूलोंका रह जाना स्वाभाविक है। कुछ सूचना-पत्र ऐसे भी आये हैं जिनमें स्थानोंके नाम ठीकसे पढ़नेमें नहीं आते। नाम ठीकसे पढ़नेकी पूरी चेष्टा की गयी है, फिर भी इसमें भूल रह जाना सम्भव है। कुछ सूचना-पत्र डाककी गड़बड़ीसे नहीं मिले होंगे तथा कुछ हमारे कार्यालयमें अस्पष्ट होनेसे बिना पढ़े हुए भी रह गये हो सकते हैं। इस स्थितिमें उनकी गणना स्थानोंके उपर्युक्त योगमें न हो पायी हो तो इसके लिये हम सभीसे विनम्र क्षमा-याचना करते हैं। इस वर्ष स्थानाभावके कारण स्थानोंके नाम यहाँ नहीं दिये जा सके हैं।

संयोजक—नाम-जप-विभाग, गीताप्रेस, गोरखपुर

श्रीगणेशजीका स्तवन

मुदा करात्तमोदकं सदा विमुक्तिसाधकं कलाधरावतंसकं विलासिलोकरक्षकम्।
अनायकैकनायकं विनाशितेभदैत्यकं नताशुभाशुनाशकं नमामि तं विनायकम्॥ १॥
नतेतरातिभीकरं नवोदितार्कभास्वरं नमत्सुरारिनिर्जरं नताधिकापदुद्धरम्।
सुरेश्वरं निधीश्वरं गजेश्वरं गणेश्वरं महेश्वरं तमाश्रये परात्परं निरन्तरम्॥ २॥
समस्तलोकशंकरं निरस्तदैत्यकुञ्जरं दरेतरोदरं वरं वरेभवक्त्रमक्षरम्।
कृपाकरं क्षमाकरं मुदाकरं यशस्करं नमस्करं नमस्कृतां नमस्करोमि भास्वरम्॥ ३॥
अकिंचनार्तिमार्जनं चिरंतनोक्तिभाजनं पुरारिपूर्वनन्दनं सुरारिगर्वचर्वणम्।
प्रपञ्चनाशभीषणं धनंजयादिभूषणं कपोलदानवारणं भजे पुराणवारणम्॥ ४॥
नितान्तकान्तदन्तकान्तिमन्तकान्तकात्मजमचिन्त्यरूपमन्तहीनमन्तरायकृन्तनम्।
हृदन्तरे निरन्तरं वसन्तमेव योगिनां तमेकदन्तमेव तं विचिन्तयामि संततम्॥ ५॥
महागणेशपञ्चरत्नमादरेण योऽन्वहं प्रगायति प्रभातके हृदि स्मरन् गणेश्वरम्।
अरोगतामदोषतां सुसाहितीं सुपुत्रतां समाहितायुरष्टभूतिमभ्युपैति सोऽचिरात्॥ ६॥

'जो बड़े आनन्दसे अपने हाथमें मोदक लिये रहते हैं, जो सदा ही मुमुक्षु-जनोंकी मोक्षाभिलाषाको सिद्ध करनेवाले हैं, चन्द्रमा जिनके भालदेशके भूषण हैं, जो भक्तिभावसे विलसित होनेवाले लोगोंके मनको आनन्दित करते हैं, जिनका कोई नायक या स्वामी नहीं है, जो एकमात्र स्वयं ही सबके नायक हैं, जिन्होंने गजासुरका संहार किया है तथा जो नतमस्तक पुरुषोंके अशुभका तत्काल नाश करनेवाले हैं, उन भगवान् विनायकको मैं प्रणाम करता हूँ। जो प्रणत न होनेवाले—उद्दण्ड मनुष्योंके लिये अत्यन्त भयंकर हैं, नवोदित सूर्यके समान अरुण प्रभासे उद्भासित हैं, दैत्य और देवता—सभी जिनके चरणोंमें शिर झुकाते हैं, जो प्रणत भक्तोंका भीषण आपत्तियोंसे उद्धार करनेवाले हैं, उन सुरेश्वर, निधियोंके अधिपति, गजेन्द्रशासक, महेश्वर, परात्पर गणेश्वरका मैं निरन्तर आश्रय ग्रहण करता हूँ। जो समस्त लोकोंका कल्याण करनेवाले हैं, जिन्होंने गजाकार दैत्यका विनाश किया है, जो लम्बोदर, श्रेष्ठ, अविनाशी एवं गजराजवदन हैं, जो कृपा, क्षमा और आनन्दकी निधि हैं, जो यश प्रदान करनेवाले तथा नमनशीलोंको मनसे सहयोग देनेवाले हैं, उन प्रकाशमान देवता गणेशको मैं प्रणाम करता हूँ। जो अकिंचन जनोंकी पीड़ा दूर करनेवाले तथा चिरंतन उक्ति-(वेदवाणी-) के भाजन (वर्ण्यविषय) हैं, जिन्हें त्रिपुरारि शिवके ज्येष्ठ पुत्र होनेका गौरव प्राप्त है, जो देवोंके शत्रुओंके गर्वको चूर्ण कर देनेवाले हैं, दृश्य-प्रपञ्चका संहार करते समय जिनका रूप भीषण हो जाता है, धनंजय आदि नाग जिनके भूषण हैं तथा जो गण्डस्थलसे दान-(गजमद-) की धारा बहानेवाले गजेन्द्ररूप हैं तथा योगियोंके हृदयके भीतर जिनका निरन्तर निवास है, उन पुरातन गजराज गणेशका मैं भजन करता हूँ। जिनकी दन्तकान्ति नितान्त कमनीय है, जो अन्त-(यम-) के अन्तक (मृत्युंजय) शिवके पुत्र हैं, जिनका रूप अचिन्त्य एवं अनन्त है, जो समस्त विघ्नोंका उच्छेद करनेवाले हैं, उन एकदन्त गणेशका मैं सदा चिन्तन करता हूँ। जो मनुष्य प्रतिदिन प्रातःकाल मन-ही-मन गणेशका स्मरण करते हुए इस 'महागणेश-पञ्चरत्न' का आदरपूर्वक उच्च स्वरसे गान करता है, वह शीघ्र ही आरोग्य, निर्दोषता, उत्तम ग्रन्थों एवं सत्पुरुषोंका सङ्ग, उत्तम पुत्र, दीर्घ आयु एवं अष्ट-सिद्धियोंको प्राप्त कर लेता है।'

(—आचार्य शंकरकृत गणेशपञ्चरत्नस्तोत्र)